SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक ९
सितम्बर १९९९
मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ९ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

जीवन का सार्थकता

अमीषां प्राणानां तुलितविसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥

अर्थ – कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से पूर्णतः रहित होकर हमने पद्मपत्र पर पड़े जल के समान चंचल इन प्राणों की रक्षा के लिए क्या क्या नहीं किया? अर्थात् सारे दुष्कर्म किये । यहाँ तक कि धन के मद में चूर धनिकों के सामने निर्लज्ज होकर अपना गुणगान करने का पाप भी हमने किया है ।

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥

अर्थ – हमने वास्तविक क्षमाभाव से क्षमा नहीं किया, संसार के विविध सहजलभ्य सुखों की तुच्छता समझकर सन्तोषपूर्वक उनका त्याग नहीं किया, बल्कि मजबूरी में किया; कठोर ठण्ड, हवा, धूप आदि के कष्ट सहन किये, परन्तु चान्द्रायण आदि तप में नहीं तपे; दिन-रात धन का चिन्तन किया, परन्तु संयमित प्राणों से महादेव शिव के चरणों का ध्यान नहीं किया; मुनियों द्वारा जो भी किये जाते हैं, वे सारे कर्म हमने किये, परन्तु उचित भाव न होने के कारण उन कर्मों के फलों से वंचित रह गये ।

— भर्तृहरिकृत **वैराग्यशतकम्, ५-६**

मातृवन्दना

– १ –

माँ असत् कर दूर चित से, चल लिये सन्मार्ग पर,
घन अँधेरा दूर कर दे, हृदि कमल उजियार कर ।
मृत्यु का भय नाश करके, दे मुझे अमरत्व वर,
निज कृपा की दृष्टि रखना, सर्वदा दुख-ताप हर ॥

– २ –

(मधुकौंस – त्रिताल)

ज्यों तू रखती है, त्यों ही रहता हूँ । (माँ) ।
यश-अपयश सुख-दुख जननी सहता हूँ ॥
तेरी माया में, भटका था चिरदिन,
लोभ-मोह-मद में, डूबा था तुझ बिन,
अब तो बोध हुआ, पदयुग गहता हूँ ॥
पंचभूत यह जग, मृगतृष्णा है सब,
जनम जनम पीया, प्यास बुझी है कब!
स्नेहबिन्दु दे दे, सविनय कहता हूँ ॥
तेरे पूजन को, मेरे आकुल प्राण,
है श्मशान तुझको, प्रिय अम्बे यह जान,
चिता बना हृदि को, प्रतिपल दहता हूँ ॥
सागर तरने का, कर प्रयास हारा,
पर अब तुझको ही, भार दिया सारा,
डाल चुका पतवार, यूँ ही बहता हूँ ॥

– विदेह

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

१२ सितम्बर, १८९९

प्रिय श्रीमती बुल,

आपने ठीक ही समझा है – मैं निष्ठुर हूँ, बहुत निष्ठुर । पर मुझमें जो कोमलता आदि हैं, वह मेरी दुर्बलता है । काश! यह दुर्बलता यदि मुझमें कम होती, बहुत कम होती! हाय! यही है मेरी दुर्बलता और यही मेरे सभी दुःखों का कारण है । बीच बीच में अपने बच्चों की जो मैं कठोर भर्त्सना करता हूँ, उसके लिए मैं दुखी हूँ, परन्तु वे लोग भी भलीभाँति जानते हैं कि संसार में मैं ही उन्हें अधिक प्यार करता हूँ ।

यह सच है कि मुझे दैवी सहायता मिली है! किन्तु ओह! उसके प्रत्येक कण के लिए न जाने मुझे अपना कितना खून बहाना पड़ा है । वह न मिलने पर शायद मैं ज्यादा सुखी होता, और अच्छा मनुष्य बनता । वर्तमान परिस्थिति बहुत ही अन्धकारमय प्रतीत होती है; किन्तु मैं योद्धा हूँ, युद्ध करते करते ही मैं मरूँगा, हार नहीं मानूँगा; इसी कारण तो मैं बच्चों पर नाराज हो जाता हूँ । मैं तो उन्हें युद्ध करने नहीं बुला रहा हूँ – मैं तो सिर्फ चाहता हूँ कि वे लोग मेरे युद्ध में बाधा न खड़ी करें ।

भाग्य के बारे में मुझे कुछ भी नहीं कहना है । किन्तु हाय! मैं चाहता हूँ कि मेरे बच्चों में से कम-से-कम एक भी तो मेरे साथ रहकर सभी प्रतिकूल अवस्थाओं में संग्राम करता रहे ।

आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें । भारतवर्ष में कोई भी काम करने के लिए मेरी उपस्थिति आवश्यक है । मेरा स्वास्थ्य पहले से काफी अच्छा है; शायद समुद्रयात्रा से और सुधर जाय । खैर, इस समय अमेरिका में पुराने मित्रों से मिलने के सिवाय मैंने और कोई काम नहीं किया । मेरी यात्रा का खर्च 'जो' से मिल जायगा, इसके अलावा श्री लेगेट के पास मेरी कुछ रकम है । भारत में भी कुछ दान मिलने की मुझे आशा है । भारत के विभिन्न प्रान्तों में मेरे अनेक मित्र हैं, जिनके पास मैं अभी तक नहीं गया हूँ । अपने जीवन में मैंने अनेक गल्तियाँ की हैं; परन्तु प्रेम का अतिरेक ही उनमें से प्रत्येक का कारण रहा है । अब मुझे प्रेम से विराग हो गया है! हाय! यदि मेरे पास वह बिलकुल न होता! आप भक्ति की बात कहती हैं! हाय, यदि मैं निर्विकार और कठोर वेदान्ती हो सकता! जाने दो, यह जीवन तो समाप्त हो चुका । अगले जन्म में प्रयास करूँगा । मुझे इसका दुःख है – खासकर आजकल – कि मेरे बन्धुओं को मेरे पास से आशीर्वाद की अपेक्षा कष्ट ही अधिक मिला है । मैं जिस शान्ति और निर्जनता

की खोज काफी समय से कर रहा हूँ, वह मेरे भाग्य में अब तक नहीं जुटी ।

अनेक वर्षों पूर्व मैं मन में यह दृढ़ निश्चय लेकर हिमालय गया था कि वापस नहीं लौटूँगा । उधर मुझे समाचार मिला कि मेरी बहन ने आत्महत्या कर ली है । फिर मेरे दुर्वल हृदय ने मुझे उस शान्ति की आशा से दूर फेंक दिया । उसी दुर्बल हृदय ने, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ उनके लिए भिक्षा माँगने मुझे भारत से दूर फेंक दिया और इसीलिए आज मैं अमेरिका में हूँ! शान्ति का मैं प्यासा हूँ; किन्तु प्यार के कारण मेरे हृदय ने मुझे उसे पाने नहीं दिया । संग्राम और यातनाएँ, यातनाएँ और संग्राम! खैर, मेरे भाग्य में जो लिखा है वही होने दो, और जितने शीघ्र यह समाप्त हो जाय उतना ही अच्छा है । लोग कहते हैं कि मैं भावुक हूँ, किन्तु भिन्न भिन्न अवस्थाओं के बारे में सोचिये तो सही! आप मुझसे कितना स्नेह करती हैं – आप मुझ पर कितनी कृपा रखती हैं! फिर भी मैं आपके दुःखों का कारण बना! इस कारण मैं बहुत दुःखी हूँ किन्तु जो होने का था, हो गया – अब उसका कोई उपाय नहीं! मैं अब ग्रन्थियाँ काटना चाहता हूँ या इसी प्रयत्न में मर जाऊँगा ।

आपकी सन्तान,

विवेकानन्द

पुनश्च – महामाया की इच्छा पूर्ण हो! सैनफ्रांसिस्को होकर भारतवर्ष जाने का खर्च मैं 'जो' से माँगूँगा । यदि वह भिक्षा देगी, तो शीघ्र ही मैं जापान होते हुए भारत को प्रस्थान करूँगा । इसमें एक माह लग जायगा । आशा है कि भारत में काम चलाने या उसे सुप्रतिष्ठित करने लायक दान वहाँ इकट्ठा कर सकूँगा । काम की आखिरी अवस्था बहुत ही अन्धकारमय और विशृंखल दिखायी दे रही है – अवश्य मुझे ऐसा ही प्रतीत हो रहा था । किन्तु आप कदापि ऐसा न सोचें कि मैं एक क्षण के लिए भी रण छोड़ दूँगा । भगवान आपको आशीर्वाद दें । काम करते करते आखिरकार प्रभु मुझे रास्ते में मरने के लिए यदि अपने छकड़े का घोड़ा भी बनायें, तो भी उनकी इच्छा पूर्ण हो । अभी आपका पत्र पाकर मैं अतीव आनन्दित हूँ, ऐसा आनन्द मुझे अनेक वर्षों से नहीं मिला । वाहे गुरु की फतह! गुरुदेव की जय हो! हाँ, जैसी भी अवस्था क्यों न आए – जगत आए, नरक आए, देवगण आएँ, माँ आएँ – मैं संग्राम में लड़ता ही रहूँगा, हार कदापि न मानूँगा । रावण ने साक्षात भगवान के साथ युद्ध कर तीन जन्म में मुक्ति पाया था । महामाया के साथ युद्ध करना तो गौरव की बात है । भगवान आपका एवं आपके सभी इष्टमित्रों का मंगल करें । मैं जितना योग्य हूँ, उससे अधिक, अत्यधिक आपने मेरे लिए किया है । क्रिस्टिन तथा तुरीयानन्द को मेरा प्यार ।

वि.

विजयादशमी

स्वामी आत्मानन्द

विजयादशमी का पर्व विजय का पर्व है – शुभ की अशुभ पर, अच्छाई की बुराई पर, देवत्व की असुरत्व पर, दुर्गा देवी की महिषासुर पर विजय का पर्व है। यह देवी के शक्ति-बोधन का पर्व है, जब उनकी कृपा से शक्तिमान होकर श्रीराम ने रावण का वध किया था। अतएव यह विजयोल्लास के रूप में मनाया जाता है। श्रीराम धर्म की शक्ति के मूर्त विग्रह हैं और रावण भौतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों शक्तियों की टक्कर शाश्वत है। इस टक्कर में अधिकांशतः भौतिक शक्ति ही अधिक विजयी होती है। फलस्वरूप संसार अशान्ति, तनाव और असन्तुलन का ही अधिक शिकार होता रहता है। बहुधा मनुष्य की ऊपर से धार्मिक दिखनेवाली शक्ति भी वस्तुतः भौतिक शक्ति की प्रबलता में ही वृद्धि करती है। रावण भी शिवभक्त है, शिव की उपासना करता है, याग-यज्ञ करता है, परन्तु वह धर्म की शक्ति को बढ़ाने के लिए नहीं, अपितु अपने भौतिक प्रताप में वृद्धि करने के लिए ही ये सारे कर्मकाण्ड करता है। इससे धर्म की शक्ति क्षीण हो जाती है। भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य जैसे धर्मनिष्ठ व्यक्ति भी जब दुर्योधन का पक्ष लेते हैं, तो वे यह भूल जाते हैं कि वे अधर्म की ही पीठ ठोंक रहे हैं और इस प्रकार धर्म को शक्तिहीन बना रहे हैं। धार्मिक व्यक्ति का ऐसा अविवेक ही अधर्म और भौतिकता का पोषण करता है।

श्रीराम अपने जीवन के माध्यम से धर्म के सही स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं और रावण पर विजय प्राप्त करके यह दर्शाते हैं कि यदि हमारी धर्मनिष्ठा का उद्देश्य और प्रतिफल धर्म की प्रतिष्ठा ही है, तब तो प्रचण्ड भौतिक शक्ति भी ऐसी धर्मशक्ति के सम्मुख घुटने टेक देगी। श्रीराम की विजय हमें धर्म की विजय के सम्बन्ध में आश्वस्त करती है।

'रामचरितमानस' में एक प्रसंग आता है। विभीषण युद्धभूमि में श्रीराम को रथहीन तथा रावण को रथ पर सवार देखकर अधीर हो जाते हैं और उनके मन में श्रीराम की विजय के सम्बन्ध में सन्देह पैदा होता है। वे श्रीराम से कहते हैं – "हे नाथ, आपके न रथ है, न तन की रक्षा करनेवाला कवच है और न जूते ही हैं। वह बलवान वीर रावण किस प्रकार जीता जायगा?" श्रीराम उत्तर देते हैं – "सुनो सखे, जिससे जय होती है, वह रथ दूसरा ही है। शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं। सत्य और सदाचार उसकी मजबूत ध्वजा और पताका हैं। बल, विवेक, इन्द्रिय-दमन और परोपकार – ये चार उसके घोड़े हैं; जो क्षमा, दया तथा समतारूपी डोरी से रथ में जोते हुए हैं। ईश्वर का भजन ही उस रथ को चलानेवाला चतुर सारथी है। वैराग्य ढाल है और सन्तोष तलवार है। दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है। निर्मल और स्थिर मन तरकस के समान है। मनःसंयम, यम और नियम – ये बहुत से बाण हैं। सच्चरित्र, ज्ञानी और साधु व्यक्तियों तथा गुरु का पूजन अभेद्य कवच हैं। इसके समान विजय का दूसरा उपाय नहीं है। हे धीर बुद्धिवाले सखा,

सुनो, जिसके पास ऐसा दृढ़ धर्मजयी रथ हो, वह वीर जन्म-मृत्युरूपी महान् दुर्जय शत्रु को भी जीत सकता है, फिर रावण की तो बात ही क्या है !''

श्रीराम का यह कथन मात्र त्रेतायुग और केवल उन्हीं के जीवन का सत्य नहीं, बल्कि वह आज का भी और हममें से प्रत्येक के जीवन का भी सत्य है। हम सबके भीतर यह राम-रावण युद्ध चल रहा है। यदि हम अपने जीवन में श्रीराम को विजयी देखना चाहते हैं, तो हमें इस धर्मरथ का सहारा लेना पड़ेगा। विजयादशमी के दिन रावण के कागजी पुतले को जलाकर जो हम तनिक देर उल्लास का अनुभव करते हैं, उसे देखकर रावण हमारी मूर्खता पर ठहाका मारकर हँसते हुए कहता है – ''मूर्खो, वर्ष में ५ मिनट मेरा पुतला जलाकर यदि तुम विजयोत्सव का आनन्द लेना चाहो, तो ले लो, लेकिन ३६४ दिन, २३ घण्टे और ५५ मिनट तो मैं ही तुम्हें मारता हूँ।''

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रावण को 'मोह' का प्रतीक बताया है। 'गीतावली' में वे लिखते हैं – 'मोह दसमौलि' अर्थात मोहरूप रावण के दस सिर हैं। इस मोह के दसों सिर को कुचलने का पर्व होने के कारण विजयादशमी को 'दशहरा' भी कहा गया है। अतएव विजयादशमी की सार्थकता इसी में है कि हम इस दुर्दान्त मोह को, जो हमें सतत मार रहा है, जीतने के लिए श्रीराम के चरित्र से उत्साहित और अनुप्राणित होकर एक नया संकल्प लें और अपने जीवन में पूर्वोक्त धर्मरथ के आनयन की अनवरत चेष्टा का साधु व्रत अगले वर्ष के लिए फिर से दुहराएँ। ☐

गीता का सन्देश

गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञान का अतीव स्पष्ट उपदेश किया है। यह महान काव्य समस्त भारतीय साहित्य का मुकुट-मणि माना जाता है। यह वेदों पर एक प्रकार का भाष्य है। गीता हमें दिखाती है कि आध्यात्मिक संग्राम इसी जीवन में लड़ा जाना चाहिए; अत: हमें उससे भागना नहीं चाहिए, अपितु उसको विवश करना चाहिए कि जो कुछ उसमें है, वह उसे हमको प्रदान करे। चूँकि गीता उच्चतर वस्तुओं के लिए संघर्ष का प्रतिरूप है, इसलिए उसके दृश्य को रणक्षेत्र के बीच प्रस्तुत करना अतीव काव्यमय हो गया है।

अध्याय-पर-अध्याय श्रीकृष्ण दर्शन तथा धर्म की उच्च शिक्षा अर्जुन को देते हैं। ये शिक्षाएँ ही इस काव्य को इतना अद्भुत बनाती हैं। वस्तुत: समस्त वेदान्त-दर्शन इसमें समाविष्ट है। वेद का उपदेश है कि आत्मा असीम है और किसी प्रकार भी शरीर की मृत्यु से प्रभावित नहीं होती। आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है और जिसका केन्द्र किसी देह में होता है। मृत्यु केवल इस केन्द्र का परिवर्तन है।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(इकहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

अवतार का जीवभाव और देवभाव

प्राणकृष्ण के साथ बातचीत करते हुए ठाकुर कहते हैं, "परन्तु आदमी में उनका ज्यादा प्रकाश है, ... पंचभूतों के फन्दे में पड़कर ब्रह्म रो रहे हैं।" यह बात उन्होंने अनेक बार कही है। ब्रह्म, जो समस्त गुण, सुख-दुख, रोग-शोक आदि से अतीत है, वही जब देह धारण करता है, तो उसे जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि जीव-धर्म भी स्वीकार करना पड़ता है। और यदि वह चाहें तो इस देहधर्म को छोड़ भी सकता है। सामयिक रूप से शरीर मानो उसे बाँधे रखकर देह में थोड़ा-सा 'मैं'-बोध ला देता है।

अवतार को समझने के लिए उन पर दो दृष्टियों से विचार करना होगा, एक तो उनका ईश्वरत्व, देवभाव और दूसरा जरा-व्याधि के अधीन उनका जीवभाव। यह कल्पना नहीं, सत्य है। उनका देहधारण जितना सत्य है, देह के धर्मो को स्वीकार करना भी उतना ही सत्य है। ऐसा न होने पर वे आम मनुष्यों से बहुत दूर रह जाते हैं। अत: वे मनुष्यों के बीच आने पर, उन्हीं के समान होकर, उनकी पकड़ में आ जाते हैं। देहधर्म स्वीकार करके आने पर भी उनमें देवभाव पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, फिर कभी कभी वह विस्मृत भी हो जाता है। भगवान राम सीताजी के शोक में व्याकुल हो गये थे। ठाकुर ने भी अक्षय की मृत्यु की घटना का उल्लेख करते हुए कहा था – अक्षय की मृत्यु होने पर देखा – मानो म्यान से तलवार को खींच लिया हो। प्राणहीन देह पड़ा रहा, आत्मा उससे अलग हो गयी। परन्तु उसके बाद तत्काल ही वे कहते हैं – ऐसा लगा मानो छाती को भीतर से कोई कपड़े की तरह निचोड़ रहा है।" यह पीड़ा ही जीवधर्म है, अवतार इसे अस्वीकार नहीं करते।

अनाहत ध्वनि

इसके बाद अनाहत ध्वनि की बात उठी। हर शब्द की उत्पत्ति किसी-न-किसी आघात से होती है। अनाहत शब्द का अर्थ है – जिसके उत्पत्ति का कारण कोई आघात न हो। अनाहत ध्वनि के विषय में शास्त्र कहते हैं – इस जगत में जो सूक्ष्म है, वह मानो नाम या शब्द है। समस्त वस्तुओं के नाम का एक जो अव्यक्त स्वरूप है, वही अनाहत ध्वनि है। उसी स्वरूप से क्रमश: जगत की विभिन्न वस्तुओं के नाम तथा रूप प्रस्फुटित होते हैं। यह ध्वनि मानो ब्रह्म का अविभक्त रूप है। उनके जगत-रूप में विभक्त होने से पूर्व, जो जगत का कारण या बीज रूप है, उसी रूप को अनाहत कहते हैं। कहते हैं कि योगीगण अलौकिक शक्ति के बल से उस ध्वनि को सुन पाते हैं। इसी को प्रणव-ध्वनि भी कहते हैं।

प्रणव का अर्थ ही होता है जगत का सूक्ष्म आदि रूप, जिससे कि जगत का समस्त नाम-रूप का प्राकट्य होता है। पंचभूत आदि, यहाँ तक कि तन्मात्रा आदि के आविर्भाव के भी बहुत पहले ब्रह्म का जो अव्यक्त रूप है, उसे भी एक दृष्टि से अनाहत कहा गया है।

परलोक के प्रसंग में

"परलोक कैसा है?" प्राणकृष्ण के इस प्रश्न के उत्तर में परलोक की विशद व्याख्या न करके ठाकुर ने केवल उसका तात्त्विक रूप बताया। वे बोले, "जब तक आदमी अज्ञान की दशा में रहता है, अर्थात जब तक ईश्वरलाभ नही होता, तब तक जन्म ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु ज्ञान हो जाने पर, फिर इस संसार में नही आना पड़ता। पृथ्वी में या किसी दूसरे लोक में नहीं जाना पड़ता।" मनुष्य को जब तक बोध नहीं हो जाता कि वह शुद्ध आत्मा है, तब तक उसे बारम्बार देह धारण करके आना पड़ता है, क्योंकि कर्म की पोटली उसे निरन्तर देह धारण करने को प्रेरित करती रहती है। 'मैं कर्ता हूँ' – यह अभिमान चले जाने पर फिर नहीं आना पड़ता। शास्त्र में कहा है कि जो जैसा कर्म या वासना रखता है, उसे उसी के अनुसार देह धारण करना पड़ता है – **यथा कर्म यथा श्रुतम्**। यह तारतम्य चलते रहने पर भी मनुष्य का संशय जाता नहीं, क्योकि इस संसार के जीवन में कभी यह अनुभव नहीं होता कि मृत्यु के बाद क्या होगा। उपनिषद में नचिकेता ने भी यही प्रश्न किया है –

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। कठ.१/१/२०

– मरे हुए व्यक्ति के विषय में यह जो संशय है – कोई कहते हैं 'रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'। मैं इसी विषय को आपसे जानना चाहता हूँ।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। कठ. १/२/२१

– यह संशय केवल मनुष्यों को ही नहीं, पुरा काल में देवताओं को भी हुआ था। यह विषय बड़ा ही सूक्ष्म और आसानी से समझ में आनेवाला नही है।

यह संशय चिरन्तन है। जब तक व्यक्ति अपने स्वरूप को नहीं जानेगा तब तक यह संशय बना ही रहेगा। ठाकुर उपमा देते हैं – कच्ची हण्डी फूटने पर उसे फिर से कुम्हार के हाथ में आना पड़ता है, किन्तु पक्की हण्डी फूटने पर वह किसी काम में नहीं आती। वैसे ही जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता, तब तक जीव को बारम्बार संसार में आना पड़ता है, किन्तु आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसे फिर देह धारण नहीं करना पड़ता। वैसे ही जैसे उबाले हुए धान को जमीन में बोने पर उससे पौधा नहीं उगता।

परलोक के विषय में ज्ञान की दृष्टि से विचार के बाद अब ठाकुर सकोरे तथा सूर्य का दृष्टान्त देते हुए पौराणिक मत का उल्लेख करते हैं – शरीर एक सकोरा है, जिसमें मन-बुद्धि-अहंकार रूपी जल है। इस जल में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से मनुष्य भी चेतन प्रतीत हो रहा है। एकमात्र ईश्वर का चैतन्य ही वास्तविक चैतन्य है। विभिन्न देह-इन्द्रियों आदि से अनेकधा विभक्त होकर प्रतिबिम्बित होने के कारण वे विभिन्न रूपों में दिखाई दे रहे हैं। यह विभिन्नता भक्तों की दृष्टि से भी है। पार्थक्य केवल इतना है कि भक्त की दृष्टि में ये सब सत्य हैं और ज्ञानी की दृष्टि में ये मिथ्या कल्पनामात्र हैं। समुद्र के जल में लाठी पड़े रहने से जल दो भागों में विभक्त दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह विभक्त नहीं होता। वैसे ही ईश्वर और जगत को माया-रूपी लाठी के कारण हम दो पृथक रूपों में देखते हैं। अहं-रूपी लाठी को हटा लेने पर जीव, जगत, ब्रह्म – सब एक ही हैं।

ज्ञानी का लक्षण

ज्ञानी के लक्षणों के प्रसंग में वे कहते हैं कि ज्ञानी किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता। गीता में कहा है – **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। (१२/१३)** – ज्ञानी सर्वभूतों के प्रति द्वेषरहित, मित्रभावापन्न और दयावान होते हैं। जिसे सर्वभूतों के साथ एकात्म-बोध हुआ है, वही ज्ञानी कहलाता है। कहते हैं – ज्ञानी को किसी विषय में आसक्ति नहीं होती। वे बालकों के समान ममत्वबुद्धि से रहित, निर्लिप्त होते हैं। लोग जिस ऐश्वर्य को पाकर उन्मत्त हो जाते हैं, ज्ञानी उसे तुच्छ समझते हैं। इसलिए लोग इसे उनका उन्माद कहते हैं और शुचि-अशुचि का भेद-ज्ञान न होने के कारण उन्हें पिशाच कहा जाता है।

ज्ञानी के प्रसंग में वे 'स्वप्न में लकड़हारे के राजा हो जाने' की कथा बताते हैं। वस्तुतः उसका लकड़हारा होना जितना सत्य है, स्वप्न में राजा होना भी उतना ही सत्य है। अर्थात ज्ञानी की पारमार्थिक दृष्टि से कोई पार्थक्य नहीं रह जाता, इस दृष्टि से दोनों मिथ्या हैं।

इसके बाद विज्ञानी की अवस्था के प्रसंग में ठाकुर कहते हैं – जिसने दूध के बारे में सुना भर है, वह अज्ञानी है; जिसने देखा है, वह ज्ञानी है; और जो पीकर बलवान हुआ है, जिसे अनुभूति हुई है, वही विज्ञानी है। ज्ञान के द्वारा जिनका समग्र जीवन पूर्णतः प्रभावित तथा नियंत्रित हो रहा है, उन्हीं को वे विज्ञानी कहते हैं। संसार के नाना वैचित्र्यों के बीच भी वे एकमात्र परम सत्ता की उपलब्धि करते हैं।

उस स्तर पर पहुँचने के लिए पहले **नेति नेति** – 'यह नहीं, यह नहीं' – करना पड़ता है। छत पर पहुँचने के लिए पहले तो एक एक सीढ़ी छोड़ते हुए ऊपर चढ़ना पड़ता है, परन्तु छत पर पहुँचने के बाद दिखाई देता है कि जिस वस्तु से छत बनी है, सीढ़ी भी उसी से बनी है। **एतदात्म्यं इदं सर्वम्** – इस जगत में जो कुछ भी देखता हूँ, सब वे ही हैं। सर्वं खल्विदं ब्रह्म – यह सब कुछ ब्रह्म ही है – इसी ज्ञान को विज्ञान कहते हैं।

उनकी इच्छा हो तो वे स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही हो सकते हैं। इस बात को हम स्वप्न के एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं। स्वप्न में कोई वस्तु नहीं है, तो भी नदी, पहाड़, नगर आदि दिखाई देते हैं, पर नींद खुलने पर कुछ भी नहीं रह जाता। मन की विभिन्न वृत्तियों की अभिव्यक्ति ही स्वप्न है। सूक्ष्म वस्तु हमारे समक्ष स्थूल-रूप हो जाता है। वैसे ही जो ब्रह्म वस्तु है, उसी ने जाग्रत अवस्था में स्थूल रूप ले लिया है। इसलिए उनके लिए स्थूल होना कोई असम्भव बात नहीं है। इसको उनकी ऐन्द्रजालिक शक्ति कहते हैं। वे एक होकर भी अनेक हुए हैं। अघन-घटन-पटीयसी माया असम्भव को भी सम्भव करती है। भगवान की इस अचिन्त्य शक्ति को ही हम माया कहते हैं। इसी के प्रभाव से इस जगत-वैचित्र्य की सृष्टि हुई है। यह विज्ञानी की अनुभूति की बात है।

ब्रह्मदर्शन और दिव्यदृष्टि

ज्ञानी-विज्ञानी के प्रसंग में प्राणकृष्ण के प्रश्न के उत्तर में ठाकुर कहते हैं – विज्ञानी सर्वत्र ही ब्रह्मदर्शन करते हैं, अतः वे भला क्या त्याग करेंगे! ज्ञान-लाभ के उपरान्त जब श्री रामचन्द्र ने संसार का त्याग करना चाहा तो वशिष्ठ बोले – राम! संसार यदि ईश्वर से भिन्न हो, तो तुम इसे छोड़ सकते हो।' श्रीराम समझ गये कि सर्वत्र एक ही ब्रह्म व्याप्त हैं, अतः उनका संसार-त्याग नहीं हुआ। असल बात यह है कि दिव्यदृष्टि चाहिए। मन के शुद्ध होने पर ही वह दृष्टि होती है। नेत्र तो यंत्र मात्र हैं, असल कार्य तो मन करता है। मन के शुद्ध

होने पर देखना भी शुद्ध होता है अर्थात सर्वत्र उसी ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इसलिए दिव्य चक्षु का अर्थ कोई अलौकिक चक्षु नहीं बल्कि मन का शुद्ध होना है। कहते हैं, "अतएव साधना चाहिए।" इसीलिए मुख से हजारों बार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रटने से भी दृष्टि शुद्ध नहीं होती। मन को शुद्ध करने के लिए साधना की आवश्यकता है।

गृहस्थ का और संन्यासी का त्याग

गृहस्थी में भी जो सुविधा है, अब उसके विषय में ठाकुर कहते हैं – संसार में रहने में भी कोई दोष नहीं है। उसमें थोड़ा-बहुत भोग कर लेने पर भी मनुष्य चिरकाल के लिए पतित नहीं होता। वह फिर उठता है। यह सुनकर मास्टर महाशय सोचते हैं – संसारी लोग पूरी तौर से कर नहीं सकेंगे, इसीलिए शायद ठाकुर थोड़ी सी छूट दे रहे हैं। उनके बाद वे स्वगत में अपने से पूछते हैं – संसार में रहकर सोलह आने त्याग क्या बिल्कुल असम्भव है? परन्तु ठाकुर ने कभी इसे असम्भव नहीं कहा, बल्कि सोलह आने त्याग करने के लिए ही कहा है। इसमें कोई समझौता नहीं है। तो भी उत्थान-पतन के भीतर से ही मनुष्य को आगे बढ़ना होगा। संसारियों के सन्दर्भ में स्थूल रूप से और त्यागियों के सन्दर्भ में सूक्ष्म रूप से उत्थान-पतन हो रहा है। उत्थान-पतन मन में ही होता है, स्थूल शरीर का कोई विशेष महत्व नहीं है। गृहस्थ यदि त्याग के आदर्श से थोड़ा-बहुत स्खलित हो जाय, तो वह हमेशा के लिए नहीं गिर जाता, फिर उठता है। किन्तु त्यागी के मामले में त्याग चरम है, उसके जरा-सा भी आदर्शच्युत होने पर उसे उस श्रेणी में रखा नहीं जा सकता। त्यागी को सूक्ष्म स्तर पर संग्राम करना पड़ता है। गृहस्थ और त्यागी में बस इतना ही भेद है।

सत्यनिष्ठा – भगवत्प्राप्ति का एक मार्ग

इसके बाद श्रीरामकृष्ण सत्यनिष्ठा के बारे में बोलते हैं – सत्य को दृढ़ता से पकड़े रह सकने पर लक्ष्य की ओर बढ़ना आसान हो जाता है। लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के जो विविध मार्ग हैं, उनमें सत्य भी एक है। ठाकुर कहते हैं – सत्य वचन पर खूब दृढ़ता चाहिए। आपात दृष्टि से लगता है कि यही मार्ग सबसे सरल है, परन्तु जब हम व्यावहारिक जीवन में इसका प्रयोग करने जाते हैं, तभी समझ में आता है कि यह सहज दिखनेवाला मार्ग कितना कठिन है। राजा हरिश्चन्द्र के जीवन-चरित्र से समझा जा सकता है कि इसके लिए कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। ठाकुर कहते हैं – पहले इतनी दृढ़ता थी कि जो कह दिया, उसे पूरा करना ही होगा। अब उतनी दृढ़ता नहीं हैं। परन्तु साधनावस्था में ऐसी दृढ़ता चाहिए। सामान्य लोगों को लगेगा कि यह थोड़ी अतिशयोक्ति है। परन्तु साधना के क्षेत्र में अतिशयोक्ति जैसा कुछ नहीं है। जो पकड़ना है, उसका पूरी तौर से पालन करना होगा – साधना का यही नियम है।

इसके बाद ठाकुर पूर्णज्ञान के बारे में कहते हैं, "वैष्णवचरण ने कहा था कि आदमी के भीतर जब ईश्वर के दर्शन होंगे, तब पूर्ण ज्ञान होगा।" ठाकुर अपने स्वयं के पूर्ण ज्ञान की ओर संकेत कर रहे हैं। इन दिनों वे सर्वत्र नारायण दर्शन कर रहे हैं। देख रहे हैं कि वे एक नारायण ही विभिन्न रूप धारण करके सर्वत्र विराजित हो रहे हैं।

मन का त्याग कठिन है

प्राणकृष्ण के कामकाज छोड़ देने के प्रसंग में वे कहते हैं, "हाँ, बड़ी झंझट है। इस समय कुछ दिन निर्जन में ईश्वर-चिन्तन करना बहुत अच्छा है। तुम कहते तो हो कि

छोड़ोगे। कप्तान ने भी यही कहा था। संसारी लोग कहते तो हैं, पर कर नहीं सकते।" लोग सोचते हैं कि अब कामकाज छोड़कर निवृत्त हो जाऊँगा, मन लगाकर प्रभु का नाम लूँगा, किन्तु कहने भर से तो छूट नहीं जाता। छोड़ने के बाद भी कई बार फिर से एक नया काम शुरू कर लेता है। पूछने पर कहता है – क्या करूँ खाली नहीं बैठ सकता। असल में भगवान के स्मरण-मनन को लेकर रहने के लिए उसके मन की तैयारी अब तक हुई नहीं, इसलिए ब्राह्य कर्मों के बन्द हो जाने से भी क्या? मन के कर्म तो बन्द नहीं हुए।

इसके बाद ठाकुर पण्डितों के विवेक-वैराग्य की बात कहते हैं – विवेक-वैराग्य न रहे, तो पण्डित और पशु में कोई भेद नहीं रहता। शंकराचार्य के सूत्र में भी यही बात है – विवेकहीन पण्डित और पशु में कोई अन्तर नहीं है।

मास्टर महाशय का परिवर्तन

अब मास्टर महाशय अपना स्वयं का मनोभाव व्यक्त करते हैं। वे ब्राह्मभाव में भावित थे। भगवान के साकार रूप को नहीं मानते थे। किन्तु अब भवतारिणी के मन्दिर में जाकर माँ को प्रणाम करते हैं, क्योंकि ठाकुर माँ को मानते और प्रणाम करते हैं। मास्टर महाशय ने देखा– "उनके दोनों बायें हाथों में खड्ग और नरमुण्ड शोभा दे रहे हैं, दोनों दाहिने हाथों में वर और अभय। एक ओर वे भयंकर मूर्ति हैं और दूसरी ओर भक्तवत्सला मातृमूर्ति। उनमें दो भावों का एकत्र समावेश हो रहा है।" ब्राह्मसमाज के नेता केशव सेन ने भी माँ को मान लिया था और कहते थे, "क्या यही मृण्मय आधार में चिन्मय मूर्ति है?" माँ की चिन्मयी सत्ता की उपलब्धि के लिए ठाकुर के समान शुद्ध दृष्टि चाहिए। हम लोग जो माँ को प्रस्तर मूर्ति के रूप में देखते हैं, यह हमारी दृष्टि का दोष है। स्थूल जगत में भी इसी तरह का पार्थक्य देखने में आता है। मायामुग्ध नेत्र माया के पात्र में ही आबद्ध रहते हैं। उसके लिए उसे छोड़कर अन्य कोई भी प्रिय वस्तु नहीं है। उल्लू अपने बच्चे को ही सर्वाधिक सुन्दर समझता है, इसीलिए लक्ष्मीजी द्वारा दी हुई माला उसने उसी के गले में डाल दी थी। दिव्य चक्षु रहे तो स्थूल वस्तु में भी चिन्मय सत्ता के दर्शन हो सकते हैं।

जागतिक व्यवहार में निष्ठा

इसके बाद ठाकुर ने एक व्यावहारिक बात कही। मास्टर महाशय के स्नान कर आने के बाद ठाकुर ने उन्हें प्रसाद दिया। मास्टर महाशय पानी का लोटा बरामदे में छोड़ आए हैं और यह बात ठाकुर की दृष्टि से छिपी नहीं रह पाती। वे तत्काल बोले, "लोटा नहीं लाए?" मास्टर घबड़ाकर जल्दी से उसे लाने गये। ठाकुर कहते थे – समाधिस्थ रहने पर मुझे पहने हुए वस्त्रों तक का होश नहीं रहता, पर मन के बाह्य जगत में रहने पर उससे कोई भूल नहीं होती। ऐसे लौकिक व्यवहार में भूल होने पर ठाकुर बड़े नाराज होते थे और इस विषय में सर्वदा सबको सावधान करते रहते थे।

ठाकुर परमार्थ तत्त्व की चर्चा करते हुए भी जागतिक व्यवहार के विषय में खूब सचेत रहते थे। वे मास्टर महाशय को उनके पुराने मकान में लौट जाने को कह रहे हैं, क्योंकि संयुक्त परिवार में रहने पर जप-ध्यान में सुविधा होगी। पर मास्टर महाशय डरते हैं। ठाकुर कहते हैं कि यह भय निर्मूल है। मन में अविश्वास रहने पर मनुष्य में ऐसा भय पैठ जाता है। विपत्ति के समय कई बार आदमी काल्पनिक भय से घबराकर, उल्टा-सीधा करके विपत्ति को और भी बढ़ा लेता है, किन्तु विपत्ति के समय शान्त रहने पर प्राय: वह अपने

आप ही कट जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे विपत्ति के प्रतिकार से मना कर रहे हैं, पर अनावश्यक विपत्ति को बुला लाना भी ठीक नहीं। इस प्रसंग में एक घटना का स्मरण हो रहा है – एक बार स्वामी सारदानन्द नौका से जा रहे थे। नाव में बैठे वे तम्बाकू पी रहे थे। डॉ. काँजीलाल आदि भी उनके साथ थे। उस समय सहसा आँधी आ जाने से नौका डगमगाने लगी, परन्तु महाराज अचंचल निर्विकार चित्त से तम्बाकू पिये जा रहे हैं। डॉ. काँजीलाल ने उनके हुक्के को उठाकर गंगा में फेंक दिया। बोले, "नौका डूबी जा रही है और आप बैठे बैठे तम्बाकू पी रहे हैं?" उसके बाद आँधी थमी और नौका आकर घाट से लगी। तब महाराज बोले, "चलो ठीक है, मैं तो तम्बाकू पी रहा था और तुमने भी भला क्या किया? हुक्के को फेंक देने के अलावा और कुछ तो किया नहीं। इससे नाव क्या बच जाती?" इस तरह निरर्थक भय के कारण कभी कभी हम विपत्ति को और बढ़ा लेते हैं।

आचार्य के लक्षण

'नवविधान' का प्रसंग उठा। केशव सेन ने इसी नाम से एक नए सम्प्रदाय का गठन किया था। कई लोगों ने इस संस्था के कार्यकलाप को लेकर इसकी आलोचना की थी। रामबाबू कहते हैं कि केशव के भीतर सार वस्तु नहीं है, अन्यथा क्या उनके शिष्यों की ऐसी अवस्था होती? लेकिन ठाकुर इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं, "कुछ सार जरूर है। नहीं तो इतने लोग केशव को क्यों मानते हैं? परन्तु संसारत्याग किये बिना आचार्य का काम नहीं होता। लोग मानते नहीं, कहते हैं – यह संसारी आदमी है, खुद तो छिपकर कामिनी-कांचन का भोग करता है और हमसे कहता है, 'ईश्वर ही सत्य है, संसार स्वप्नवत अनित्य है!' सर्वत्यागी हुए बिना उसकी बात सब लोग नहीं मानते।" ऐसी बात नहीं कि भगवान के पथ पर जाने के लिए सबको संसारत्यागी ही होना पड़ेगा – यह बात ठाकुर ने अनेक स्थानों पर कही है। जो लोग संसार में हैं उन्हें केवल आन्तरिक त्याग करना है, परन्तु आचार्य को आन्तर-बाह्य दोनों प्रकार से त्यागी होना होगा। इसीलिए संसारियों का आचार्य होना कठिन है, क्योंकि जो त्यागमंत्र दीक्षित हैं वे उनकी बात ग्रहण नहीं करेंगे।

धर्म भाव में ठाकुर की उदारता

रामबाबू द्वारा ठाकुर को नवविधानी कहे जाने पर उन्होंने कहा, "कौन जाने भाई, मैं तो यह भी नहीं जानता कि नवविधान का अर्थ क्या है!" वे राम की बातों का शाब्दिक अर्थ स्वीकार नहीं करते। वस्तुत: ठाकुर यह नहीं मानना चाहते कि केशव सेन ने किसी नये धर्ममत की सृष्टि की है। वे कहते हैं कि धर्मपथ पर चलने के ये सारे विधान युग-युगान्तर से चले आ रहे हैं। सत्य चिरन्तन है, युग के अनुसार नहीं बदलता। उसी पुरातन सत्य को युग युग में नये ढंग से स्थापित किया जाता है। केशव के जन्म के बहुत पूर्व ही रचित अध्यात्म-रामायण में ज्ञान-भक्ति का समन्वय है। प्राचीन ग्रन्थों में प्राय: सर्वत्र ही यह समन्वय दिखाई देता है। गीता में भी ज्ञान-भक्ति का अपूर्व सामंजस्य दिखाया गया है। अत: केशव सेन ने कोई नयी सृष्टि नहीं की है और यदि उनके शिष्य ऐसा कुछ कहते हैं, तो समझना होगा कि वे धर्मजगत के समग्र रूप के सम्बन्ध में पूर्णत: परिचित नहीं हैं।

यहाँ पर ठाकुर के उदार दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक बात का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने कहा है कि जिन्हें कृष्ण कहते हैं, उन्हीं को शिव और आद्याशक्ति कहा जाता है। ठाकुर से पूर्व विभिन्न धर्मों का ऐसा एकत्र समावेश कहीं भी दिखाई नहीं देता। यद्यपि

कबीर अथवा नानक के धर्ममत में हिन्दू-मुसलमान धर्ममतों के कुछ सामंजस्य की बात हम पाते हैं, किन्तु वह भी एक सीमा के भीतर है। सीमा के बाहर दृष्टि डालने की शायद उस समय आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि ईसाई धर्म का प्रभाव उस समय हमारे ऊपर पड़ा नहीं था। इसलिए धर्म की व्यापकता सामने नहीं आयी थी। ठाकुर की दृष्टि में ज्ञात और अज्ञात – जितने भी धर्ममत प्रचलित हैं और होंगे, वे सभी उच्च स्थान प्राप्त हैं। यह सोचकर सचमुच अवाक रह जाना पड़ता कि जिन ठाकुर ने एक निष्ठावान ब्राह्मण-वंश में जन्म लिया, जिनकी शिक्षा-दीक्षा अत्यन्त सीमित थी, वे ही कैसे इतनी उदार दृष्टिसम्पन्न हुए! उन्होंने विभिन्न धर्ममतों को अपने स्वयं के जीवन में अनुभव किया है, साक्षात्कार किया है, और कहा है कि एक परम ब्रह्म ही विभिन्न रूपों में, विभिन्न नामों से व्यक्त हो रहे हैं।

अनेक स्थानों पर भगवान के अंश, कला आदि विभिन्न रूपों में प्राकट्य को लेकर मतभेद है, परन्तु ठाकुर कहते हैं कि जो अखण्ड, अविभाज्य है, उन्हें अंश में विभक्त नहीं किया जा सकता। सर्वत्र वही ब्रह्मशक्ति पूर्ण रूप से विराजमान है, आंशिक रूप से नहीं। परन्तु उनकी शक्ति के प्रकाश में तारतम्य है, यह बात उन्होंने अनेक स्थानों पर कही है।

"मैंने उन्हें जिस रूप में जाना है, वे केवल वैसे ही हैं, उसके अतिरिक्त वे और कुछ नहीं हो सकते"– यह मत भी ठाकुर को स्वीकार्य नहीं था। तुम उन्हें जिस रूप में जानते हो, वह तुम्हारे लिए सत्य हो सकता है, पर क्या तुमने अन्य पथों या मतों का आश्रय लेकर उनके अन्य रूपों का दर्शन किया है? हमने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वह हमारी सामर्थ्य के परे है। एक रास्ते से चलकर या एक रूप का ही दर्शन करके हम सन्तुष्ट हो जाते हैं, अन्य रूपों को देखने के लिए धैर्य रखना हमारे वश की बात नहीं है। वे विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो सकते हैं, उनके रूपों का अन्त नहीं किया जा सकता। वे दशभुज, सहस्रभुज भी हो सकते हैं, परन्तु हमारी सीमित दृष्टि उनकी धारणा नहीं कर पाती। अर्जुन को जब भगवान ने अपना अनन्तबाहु, अनन्त-मस्तक – विश्वरूप दिखाया, तो वे उसे सह नहीं सके। उनकी दृष्टि इस विराट को ग्रहण नहीं कर पा रही थी। तब वे अपनी असमर्थता जताते हुए बोले, "हे विश्वमूर्ते, तुम उसी चतुर्भुज रूप में दर्शन दो।" अर्जुन ने अपनी असमर्थता मान ली थी, किन्तु हम धृष्टतापूर्वक अपनी अक्षमता को अस्वीकार करके उन्हीं को सीमित बना लेते हैं। हम कहते हैं कि वे यह हो सकते हैं और यह नहीं हो सकते। इस सन्दर्भ में ठाकुर ने वृक्ष के नीचे बैठे गिरगिट की उपमा दी है।

पुराण में कहा गया है कि भगवान जब अवतरित होकर मर्त्यलोक में आए, तो देवताओं ने कहा – स्वर्ग में आपका सिंहासन खाली पड़ा हुआ है, आप लौट चलिए। यह कल्पना बालसुलभ है। ठाकुर कहते हैं कि जो सर्वव्यापी हैं, उनका सिंहासन क्या कभी खाली हो सकता है? अत: वे सर्वत्र और सर्व रूपों में विराजमान हैं। ठाकुर एक उपमा देते हैं – एक मैदान में एक ओर दीवार है। दीवार में एक छोटा-सा छेद है, जिससे मैदान का एक छोटा-सा अंश दिखाई देता है। छेद को बड़ा करने पर और भी अधिक बड़ा अंश दिखाई देता है। वैसे ही अपनी संकीर्ण दृष्टि के कारण हम उन्हें सम्पूर्ण रूप से सर्वत्र नहीं देख पाते। दृष्टि के इसी आवरण के कारण एक व्यक्ति एक रूप में देखता है और दूसरा व्यक्ति अन्य रूप में। ठाकुर की विशेषता यही है कि उन्होंने माँ को सर्वरूपों में देखा और उनका अरूप दर्शन भी किया। उनकी दृष्टि विशाल थी, इसलिए उन्होंने विराट का अनुभव किया था।

परन्तु तोतापुरी इतने बड़े ब्रह्मज्ञ होकर भी इस शक्ति के खेल की – भगवान के साकार रूप की कल्पना तक नहीं कर पाते । ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए उपनिषद में कहा है – 'वे अरूप हैं, निर्गुण हैं, फिर यह भी कहा गया है – सर्वरूप: सर्वकाम: सर्वरस: सर्वगन्ध: – अर्थात सब कुछ वे ही हैं । एकमात्र उन्हीं में परस्पर-विरोधी गुण सम्भव है । ठाकुर ने कहा – वे साकार भी हैं, निराकार भी हैं और इसके परे भी हैं । स्वामीजी भी एक स्थान पर कहते हैं कि ठाकुर ने जिस दृढ़ता के साथ कामिनी-कांचन-त्याग की बात कही है, उसी दृढ़ता के साथ उन्होंने यह भी कहा है कि 'भगवान की इति मत करो ।'

ठाकुर में यह उदार दृष्टि होने के कारण ही उन्होंने जहाँ कहीं जो कुछ भी अच्छा देखा, उसको सम्मान दिया । यदि हम उनके इस भाव की मन में धारणा कर सकें, तो हममें आपसी विद्वेष नहीं रह जाएगा । ठाकुर कहते हैं कि भगवान के स्वरूप को न जानकर भी यदि कोई आन्तरिक भाव से उन्हें किसी विचित्र पद्धति से पुकारे, तो उसमें दोष नहीं । जरूरत हुई तो भगवान स्वयं ही उसकी भूल को सुधार देंगे, उस पर कृपा करेंगे । अत: हम किसी की ओर वक्र दृष्टि से न देखें । हमें केवल इतना ही देखना होगा कि उसमें निष्ठा है या नहीं, वैराग्य है या नहीं? ठाकुर इस बात को हमेशा कहते थे – वैराग्य चाहिए, निष्ठा चाहिए, इसी से भगवान का स्वरूप अभिव्यक्त होगा ।

गुरुतत्त्व पर विचार

माता-पिता तथा गुरु के प्रति भक्ति के विषय में ठाकुर कहते हैं – माता-पिता अच्छे हों या खराब, उनके प्रति समान रूप से भक्ति रखना उचित है । गिरीन्द्र के प्रश्न के उत्तर में ठाकुर कहते हैं कि माता-पिता यदि कोई बड़ा अपराध कर बैठें, तो भी उनका त्याग नहीं करना चाहिए । वे कहते हैं, " एक भजन में है – यद्यपि मेरे गुरु कलवार की दूकान पर जाते हैं, तथापि मेरे गुरु नित्यानन्द राय (अर्थात साक्षात भगवान) हैं ।" इसे समझना बड़ा कठिन है । अगर किसी को अगाध विश्वास हो, तो वह किसी भी व्यक्ति-रूप आधार के माध्यम से भगवान की कृपा पा सकता है । हम एकलव्य की कहानी जानते हैं । उसने मिट्टी से द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर साधना के द्वारा उसी को चैतन्य कर लिया । अत: ऐसे असाधारण मामलों में गुरु के आधार पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती ।

परन्तु अब प्रश्न उठता है कि क्या हम गुरु के बारे में विचार नहीं करेंगे? ठाकुर इस विषय में अपने शिष्यों को निर्देश देते हैं – मैं जो कहूँ, उसे ठोक-बजाकर लेना । स्वामी योगानन्द से कहते हैं – साधु को दिन में देखना, रात में देखना, तभी विश्वास करना । फिर यह भी सत्य है कि आधार चाहे जैसा हो, अपना विश्वास ही असल बात है । इसलिए गुरु-सम्बन्धी विचार में भूल होने पर भी दृढ़ विश्वास के बल से साधक की क्षति नहीं होती । वह चैतन्य के प्रकाश का अनुभव कर सकता है । ठाकुर कहते है – एक सच्चिदानन्द ही गुरु हैं । वे हमारे भीतर ही हैं, तो भी हम उन्हें वहाँ खोज नहीं पाते, इसलिए बाहर के किसी व्यक्ति को माध्यम बनाकर उनका चिन्तन करते हैं । गुरु अनादि-अनन्त हैं । गुरुरूपी देह उन्हीं की प्रतिमा है । हम प्रतिमा में माँ-दुर्गा की पूजा करते हैं । प्रतिमा खर-मिट्टी से बनी है । हम उस खर-मिट्टी की पूजा नहीं, उसके माध्यम से चिन्मयी-माँ की पूजा करते हैं । प्रतिमा-विसर्जन का अर्थ माँ का विसर्जन नहीं, बल्कि माँ को अन्तर में ग्रहण करना है । गुरु की भी मृत्यु नहीं होती, वे अन्त:करण में चिरकाल तक गुरुरूप में विराजमान रहते हैं ।

फिर भी जैसे कुरूप प्रतिमा में साधक का मन नहीं लगता और उसमें माँ की पूजा भी ठीक से नहीं होती, वैसे ही जिन गुरु से उपदेश लेना है, उन्हें भी शुद्ध होना चाहिए। नहीं तो वे शिष्य को शुद्ध पथ पर भला कैसे चला सकेंगे? इसलिए गुरु का विचार कर लेना पड़ता है। मन शुद्ध हो जाने पर फिर इन सब बातो की आवश्यकता नहीं होती। ठाकुर कहते हैं – अन्त में मन ही गुरु हो जाता है। यह साधना के फलस्वरूप होता है। कभी कभी ऐसा भी देखने में आता है कि 'गुरु गुड़ ही रह गये और चेला चीनी हो गया'।

एक बात और है। कुलगुरु की परम्परा से हमारे समाज को बड़ी हानि हुई है, क्योंकि डॉक्टर का बेटा हमेशा डॉक्टर ही हो, यह जरूरी नहीं है। उससे दवा लेने से क्या काम चल सकता है? वैसे ही अब चूँकि गुरुवंश का शिष्यवंश के साथ ठीक योग नही जमता, अतः केवल कुलगुरु की प्रथा को बचाए रखने का कोई औचित्य नहीं है। स्वामी ब्रह्मानन्द जी कहा करते थे कि गुरु बनाने के पहले बुद्धि का उपयोग करके जितना भी हो सके भलीभाँति देख-सुन लेना, विचार कर लेने के बाद फिर कोई संशय न रहे, तब मन-प्राण से विश्वास करना अर्थात पहले निःसंशय होना, उसके बाद पूरी तौर से मन-प्राण समर्पण कर देना। संशययुक्त होने पर किसी वस्तु को सत्य मानकर ग्रहण नहीं कर सकोगे और तब 'संशयात्मा विनश्यति' वाली अवस्था होगी।

माता और पिता के प्रति भक्ति

इसके बाद वे माता-पिता के प्रति श्रद्धा के विषय में कहते हैं – यदि हम किसी एक स्थान पर श्रद्धासम्पन्न होकर अपने सम्बन्ध को दृढ़ नहीं कर सकते, तो उसे भगवान के ऊपर भी आरोपित नहीं कर सकेंगे। व्यावहारिक जीवन में माता-पिता के प्रति पूजा का भाव का अभ्यास करते करते, आगे चलकर हम उसका भगवान के ऊपर आरोप कर सकते हैं। नहीं तो जिन्हें हमने देखा नहीं, जानते नहीं, उन भगवान से हम प्रेम कैसे करेंगे? इसलिए हम उन पर किसी सांसारिक सम्बन्ध का आरोप करके उनसे प्रेम करने की चेष्टा करते हैं। किसी एक स्थान पर श्रद्धा का सम्बन्ध जोड़ लेने की आवश्यकता है।

सामाजिक कर्तव्य

इसके बाद ठाकुर विभिन्न प्रकार के ऋणों के बारे में चर्चा करते हैं। सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध बना रहता है। उन सम्बन्धों के साथ कितने ही कर्तव्य जुड़े रहते हैं, जिन्हें पालन करना पड़ता है। कर्तव्य के प्रति उदासीनता से काम नहीं चलता। यथा माता-पिता या पत्नी के प्रति कर्तव्य। ठाकुर इन विभिन्न कर्तव्यों को मातृऋण, पितृऋण, स्त्रीऋण आदि कहते हैं। समाज में रहकर, समाज के द्वारा प्रतिपालित होकर, यदि कोई समाज के प्रति कर्तव्य न निभाये, तो उसका सामाजिक जीवन कभी ठीक नहीं रह सकता। जब कदम कदम पर हमें दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है, तो निश्चय ही उसका कुछ प्रतिदान भी देना पड़ता है। इसलिए कर्तव्यों का पालन करना जरूरी है।

जिसका बन्धन नहीं है, उसका कर्तव्य भी नहीं

परन्तु ठाकुर यह भी कहते हैं कि भगवान के लिए पागल हो जाने पर व्यक्ति का कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – 'तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य नहीं है'। – क्यों नहीं है? इसलिए कि भगवान कर्तृत्वबोध के साथ कुछ नहीं करते। साधारण

मनुष्य अपनी अपूर्णता को दूर करने हेतु कर्म करता है, पर भगवान तो स्वयं पूर्ण हैं, अत: वे कुछ पाने हेतु कर्म नहीं करते, बल्कि अपने स्वभाव से ही जगत का मंगल करते हैं। **वसन्तवत् लोक हितं चरन्त** – जैसे वसन्त ऋतु अपने स्वभाव से ही सबके मन में प्रसन्नता जगाता है। वह इसके बदले में कुछ चाहता नहीं। इसी प्रकार अवतार भी केवल देने आते हैं। देते जाना ही उनका स्वभाव होता है, इसलिए उनका कोई कर्तव्य नहीं होता। इसी तरह जो लोग कर्तृत्व-बुद्धि से रहित हैं, उनका कोई कर्तव्य-अकर्तव्य आदि कुछ रह नहीं जाता। वे मुक्त, बन्धनहीन, विधि-निषेध से परे हैं। विधि अथवा निषेध का प्रयोग उस व्यक्ति पर किया जाता है, जो स्वयं को कर्ता समझता है। वही सोचता है कि क्या करूँ और क्या न करूँ? विधि का प्रयोग करते समय तीन प्रश्न उठते हैं – कौन करेगा? क्या करेगा? कैसे करेगा? चाहे ज्ञानयोग हो अथवा कर्मयोग – सर्वत्र ही इन तीन प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। ज्ञानमार्ग के उपदेश में कहा गया है – आत्मा को देखना होगा। पहले तो यही प्रश्न है कि अधिकारी कौन है अर्थात कौन देखेगा? जो मुमुक्षु है, उसी के लिए यह विधान है। इसके बाद प्रश्न है कि वह क्या करेगा? – आत्मविचार करेगा। तीसरा प्रश्न है - कैसे करेगा? – श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा करेगा। इसी प्रकार सभी क्षेत्रों में कोई कर्ता होने पर उस पर विधान लागू किया जाता है। कर्ता न रहने पर विधान भला किसके ऊपर लागू होगा?

ठाकुर कहते हैं – माता-पिता परम पूज्य हैं, उन्हें रुलाकर क्या धर्म हो सकता है? अब प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा भी पुत्र है, जो माँ-बाप को बिना रुलाए साधु बना हो? ठाकुर ने इसका भी उत्तर दिया है – ईश्वर सबसे बड़े हैं, अत: उनके लिए सच्ची व्याकुलता होने पर, पागल होने पर, फिर संसार का कर्म नहीं करना पड़ता। वह समस्त ऋणों से मुक्त है। परन्तु बगल में गठरी दबाये 'होशियार पागल' – बनने से काम नहीं चलेगा।

इस बात को थोड़ा स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि अधिकारी-भेद के अनुसार ठाकुर के उपदेश भी भिन्न भिन्न हैं। प्रताप से उन्होंने कहा था – घर में माँ के पास खाने के लिए नहीं है और तुम धर्म करने में लगे हो? फिर स्वामीजी से कहा था कि वे यदि संसार की ओर गये, तो एक राजाधिराज होंगे। परन्तु ठाकुर ने उन्हें राजाधिराज न होने देकर, एक भिखारी बना दिया। वे जान गये थे कि स्वामीजी संसार का सुख भोगने नहीं आए हैं, इसीलिए उनके लिए यह व्यवस्था की।

अन्त में ठाकुर प्रेमोन्माद के लक्षण के विषय में कहते हैं, "वह अवस्था आने पर संसार भूल जाता है; अपनी देह जो इतनी प्यारी चीज है, उसे भी भूल जाता है। चैतन्यदेव की ऐसी अवस्था हुई थी। वे समुद्र में कूद पड़े थे, यह समुद्र है – उन्हें ऐसा बोध नहीं रह गया था।" यह सब उन्होंने इसलिए कहा कि मन में कपट अथवा आत्मप्रवंचना न रहे।

□(क्रमश:)□
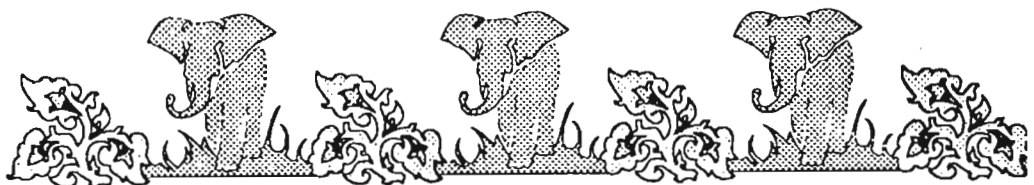
मानस-रोग (३४/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके चौतीसवें प्रवचन का पूवार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

'मानस' के उत्तरकाण्ड में गोस्वामीजी ने शरीर के रोगों के साथ तुलना करते हुए मन के रोगों का बड़ा विशद वर्णन किया है। फिलहाल जिस रोग की चर्चा चल रही है, उसके सन्दर्भ में गोस्वामी जी कहते हैं – हरष बिषाद गरह बहुताई – जैसे शरीर के रोगों में कण्ठमाला और घेंघा होता है, वैसे ही यह हर्ष और विषाद मन का रोग है।

गले में एक प्रकार का रोग होता है, जिसमें गला फूल जाता है। उसे प्रचलित भाषा में घेंघा कहते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति के मन में जब हर्ष होता है, तो मन भी गले की तरह फूल जाता है। किन्तु गला फूल जाने पर जैसे व्यक्ति यह सोचकर प्रसन्न नहीं होता कि मेरा गला कितना सुन्दर दीख रहा है, बल्कि वह रोग की आशंका से चिन्तित होकर वैद्य के पास जाता है। उसी प्रकार यह हर्ष भी एक मनोरोग का ही लक्षण है। उसे स्वस्थता का लक्षण मानकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए। गले में ही होनेवाला एक और रोग है, जिसमें बाहर से कुछ दिखाई नहीं देता, परन्तु भीतर गाँठें पड़ जाती हैं और व्यक्ति भीतर-ही-भीतर कष्ट पाता रहता है। ऐसा ही लक्षण विषाद का है। हर्ष की तरह विषाद बाहर प्रकट दिखाई नहीं देता, परन्तु मन में गाँठ पड़ जाती है और वह व्यक्ति के हृदय को सालता रहता है।

कहने की यह काव्यात्मक पद्धति है, परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि हर्ष में फूल जाना – कोई अच्छा लक्षण नहीं है। यह भी विषाद के समान ही एक मनोरोग है। मन के रोगों के साथ एक समस्या यह है कि व्यक्ति रोगी होने पर भी स्वयं को रोगी नहीं मानता। परन्तु विचार अथवा अनुभव के आधार पर व्यक्ति जहाँ काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियों को रोग मान भी लेता है, वहीं हर्ष की वृत्ति ऐसी है कि सामान्यतया व्यक्ति इसे रोग नहीं मान पाता। उसे ऐसा नहीं लगता है कि मन में हर्ष होना किसी रोग का लक्षण है। विषाद होने पर भले ही व्यक्ति उसे मिटाने का प्रयास करता है, पर हर्ष तो व्यक्ति को बड़ा प्रिय लगता है, इसलिए हर्ष की समस्या बड़ी जटिल है। यद्यपि काम-क्रोध-लोभ की अपेक्षा हर्ष-विषाद की समस्या छोटी प्रतीत होती है, परन्तु इसका निदान उससे अधिक जटिल है, क्योंकि यह हर्ष और विषाद जीव का स्वभाव है। जीव के लक्षण बताते हुए कहा गया है –

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥ १/११६/७

जीव की परिभाषा 'मानस' में अन्यत्र भी की गयी है। एक बार दण्डकारण्य में लक्ष्मणजी ने भगवान राम से पूछा –

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ।। ३/१४

– "प्रभु आप मुझे ज्ञान, वैराग्य, माया आदि का विश्लेषण करके ईश्वर और जीव का भेद बताएँ तथा भक्ति का वर्णन करें, ताकि मेरे अन्तर्मन का शोक, मोह, भ्रम दूर हो जाय और प्रभु के चरणों में प्रीति हो।"

इस पर भगवान जीव की जो व्याख्या करते हैं, वह एक दार्शनिक प्रसंग है। कभी कभी प्रश्न किया जाता है कि गोस्वामीजी का दर्शन क्या है? उन्होंने 'मानस' में किस दर्शन का प्रतिपादन किया है? इस पर विद्वानों में कुछ मतभेद है। हमारे यहाँ अनेक दर्शन प्रचलित हैं। कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी के ग्रन्थों में अद्वैत दर्शन है। उन्हें लगता है कि गोस्वामीजी का अभीष्ट शंकर का अद्वैत वेदान्त है। कुछ लोग मानते हैं कि वे श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी थे। परन्तु अगर आप 'मानस' पर गहराई से विचार करके देखें, तो पाएँगे कि गोस्वामीजी की दृष्टि मुख्यतः दर्शनपरक होने की जगह जीवनपरक है। इन दोनों में एक अन्तर है। दर्शन में जो विश्लेषण-पद्धति है, वह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति के जीवन से नित्य जुड़ी रहे। गोस्वामीजी दर्शन को साध्य नहीं मानते। कुछ विचारक तो सृष्टि को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की चेष्टा करते हैं, जानने की चेष्टा करते हैं कि वस्तुतः सृष्टि का तत्त्व क्या है, उसका स्वरूप क्या है? वैज्ञानिक दृष्टि भी एक दृष्टि है, परन्तु वह उपयोगिता पर विचार नहीं करती। जैसे विद्युत-शक्ति के रहस्य जानना, उसे उद्घाटित करना वैज्ञानिक का उद्देश्य है, परन्तु बिजली को जीवन के लिए उपयोगी बनाकर किस रुप में लोगों को देना चाहिए – यह एक अलग दृष्टि है। वैज्ञानिक प्रकृति के रहस्यों की, उसकी शक्ति की खोज करता है, परन्तु उसका क्या दुरुपयोग हो सकता है, क्या दुष्परिणाम हो सकता है, इस पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। जैसे कोई व्यक्ति अणुशक्ति की खोज करता है, तो वह वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है, परन्तु वह अणुशक्ति संसार के विनाश का कारण भी बन सकती है, इस पर विचार करना वैज्ञानिक का कार्य नहीं है। इसी प्रकार से विचार का भी उच्छृँखल प्रयोग समाज में घातक परिणाम की सृष्टि कर देता है।

गोस्वामीजी की दृष्टि क्या है? इस विषय में लोगों को थोड़ा भ्रम होता है। क्योंकि गोस्वामीजी के ग्रन्थों में कहीं तो अद्वैत वेदान्त की झलक दिखाई देती है, कहीं विशिष्टाद्वैत की, तो कहीं शुद्धाद्वैत की। इसलिए अलग अलग दर्शन के माननेवाले उनकी केवल उन्हीं पंक्तियों को पढ़कर, जिनमें उनके मनोनुकूल दर्शन की बात कही गई है, सोचते हैं कि गोस्वामीजी की मान्यता बस यही है। परन्तु उनके समग्र ग्रन्थ को पढ़ने पर दिखाई देता है कि वे अलग अलग सन्दर्भों में अलग अलग मतों को उपयोगी मानते हैं। इसे यों कह सकते हैं कि गोस्वामीजी जिस समस्या के सन्दर्भ में जिस दर्शन को उपयोगी मानते हैं, वहाँ उसका उपयोग करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते। भले ही वे परस्पर-विरोधी क्यों न प्रतीत हों। क्योंकि उनकी दृष्टि मुख्यतः यही है कि व्यक्ति के अन्तःकरण में श्रेष्ठ तथा कल्याणकारी भावों का उदय हो। यही है उनकी परम्परा। ऐसी परिस्थिति में उनकी बातें दार्शनिक मतवाद की दृष्टि से भले ही परस्पर-विरोधी लगें, वे बिना इसकी चिन्ता किए,

परिस्थिति के अनुसार बात कहते हैं। जहाँ पर व्यक्ति के मन से संसार के प्रति ममता और आसक्ति को मिटाने की बात आती है, वहाँ पर वे संसार के मिथ्यात्व की बात कहते हैं। वे यह जानते हैं कि व्यक्ति यदि सृष्टि को सत्य मानेगा, तो भला ममता और आसक्ति को कैसे छोड़ेगा? इसलिए उनके ग्रन्थ में जहाँ पर भी व्यक्ति के अन्तःकरण से ममता और आसक्ति को हटाने के अवसर आते हैं, वहाँ पर वे यही कहते हैं कि यह संसार मिथ्या है, झूठ है –

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥ १/११२/१

– जिसके बिना जाने झूठ भी सत्य प्रतीत होता है, जैसे बिना पहचाने रस्सी में सांप का भ्रम हो जाता है और जिसको जान लेने पर जगत का उसी प्रकार लोप हो जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम दूर हो जाता है।

यह मिथ्यात्व का दर्शन है। इसका अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व के ज्ञान से अगर हमारे अन्तःकरण में वैराग्य का उदय हो, तो यह ज्ञान बड़ा उपयोगी है। इसीलिए वे शांकर-वेदान्त से मिथ्यात्व को ले लेते हैं। लेकिन जिस वेदान्त-ज्ञान से मिथ्यात्व-ज्ञान होता है उसमें कोई समस्या है कि नहीं? मिथ्यात्व-ज्ञान से व्यक्ति में वैराग्य तो आ जाता है, परन्तु कभी कभी वह और आगे बढ़कर वेदान्ती हो जाता है, उसे ज्ञानीपने का अभिमान हो जाता है। अब इस अभिमान की समस्या का समाधान क्या है? गोस्वामीजी तत्काल दवा को बदल देते हैं। अभिमान की दवा है – भक्ति और भगवत्कृपा। वे मिथ्यात्व-ज्ञान के साथ भगवत्कृपा जोड़ देते हैं। यह उनकी उपयोगितावादी दृष्टि है। सिद्धान्त का उपयोग वे उपयोगिता की दृष्टि से ही करते हैं। इसीलिए रामायण के प्रारम्भ में भगवान राम की वन्दना करते समय एक पंक्ति में जहाँ उन्होंने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को लिया, तो अगली पंक्ति में ही शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त को भी अपनाया –

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः।
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः॥ श्लोक १/६

भगवान को न जानने के कारण यह मिथ्या सृष्टि व्यक्ति को सत्य जैसी प्रतीत होती है। जैसे अन्धकार के कारण व्यक्ति कभी कभी रज्जु में सर्प की कल्पना कर लेता है। अँधेरे में वह रस्सी को सांप समझ लेता है। यहाँ पर उन्होंने सृष्टि के मिथ्यात्व की ओर संकेत किया है। अब जो वेदान्त-दर्शन के समर्थक हैं, वे बहुधा इस पंक्ति को लेकर कहते हैं कि यह तो अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है, गोस्वामी जी अगर अद्वैत वेदान्ती न होते तो ऐसी बात क्यों लिखते? यदि वे विशिष्टाद्वैतवादी अथवा शुद्धाद्वैतवादी होते तो यह पंक्ति क्यों लिखते?

यह तो विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त नहीं है। यहाँ पर वेदान्त-दर्शन की थोड़ी चर्चा इसलिए की गई कि गोस्वामीजी ने जीव के लक्षण बताते हुए यहाँ जो बात कही है, वह शांकर-वेदान्त के थोड़ा निकट हो गया है। लक्ष्मणजी ने भगवान राम से पूछा कि जीव का लक्षण क्या है? उत्तर में श्रीराम कहते हैं कि जीव और ईश्वर में केवल इतना ही भेद है कि ईश्वर को अपने स्वरूप का ज्ञान है और जीव को नहीं। स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, भेद है केवल जानने और न जानने का। जैसे दो व्यक्तियों के पास समान पूँजी है, परन्तु एक व्यक्ति जानता हो कि मेरे घर में इतना धन है और दूसरे के घर में भी उतना ही धन हो, पर

उस बेचारे को उसका पता न हो और वह स्वयं को निर्धन मानता हो। अब उसकी यह निर्धनता कैसे मिटेगी? निर्धनता दो प्रकार की होती है – एक अभावजन्य और दूसरा अज्ञानजन्य। इसका अभिप्राय यह है कि जिसके पास धन नहीं है, उसकी निर्धनता अभावजन्य है। इसे दूर करने के लिए धन अर्जित करना होगा, परन्तु जो अज्ञानजन्य दरिद्रता है, वह धन एकत्रित करने की चेष्टा करने से नहीं, बल्कि मात्र जान लेने से दूर होगी। क्योंकि वस्तुतः वह दरिद्र नहीं है, बल्कि घर में धन होते हुए भी, उसे न जानने के कारण ही निर्धनता का भ्रम हुआ है। इसीलिए गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में अद्वैत वेदान्त का यह दृष्टान्त लेते हैं – रात में पलंग पर सोये हुए किसी व्यक्ति ने सहसा स्वप्न में देखा कि वह नदी में डूब रहा है। स्वप्न में कभी कभी व्यक्ति इतना तदाकार हो जाता है कि वह घटना के साथ क्रियाशील होकर हिलने-डुलने तथा बोलने लगता है। वह व्यक्ति स्वप्न में डूबता हुआ चिल्ला उठा – बचाओ, बचाओ, मैं नदी में डूब रहा हूँ। गोस्वामीजी पूछते हैं कि ऐसे व्यक्ति को डूबने से बचाने का क्या उपाय है? एक तो यह कि नदी में डूबते हुए व्यक्ति के लिए नाव ही उपयोगी है, तो चलो किसी मल्लाह से नाव लाने को कहकर, उस डूबते हुए व्यक्ति को बचाएँ। परन्तु गोस्वामीजी ने कहा कि जो स्वप्न की नदी में डूब रहा हो, उसे एक नाव तो क्या, हजार नाव से भी नहीं बचाया जा सकता। वह तो डूब ही जाएगा। तब वह बचेगा कैसे? गोस्वामीजी बड़ा सरल उपाय बताते हैं –

सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥ विनय. १२१/३

उसके लिए नाव की आवश्यकता नहीं है, उसे तो बस जगा दीजिए। बता दीजिए – भलेमानुष, यहाँ नदी कहाँ है, जिसमें तुम डूब रहे हो? इस तरह यह डूबना परिस्थितिजन्य अथवा वास्तविक नहीं, अज्ञानजन्य है और अज्ञानजन्य जो विपत्ति होगी, उसका निराकरण भी अन्य किसी तरह से नहीं, बल्कि ज्ञान से ही हो सकता है। यह वेदान्त की मान्यता है।

भगवान श्रीराम जीव के लक्षणों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अज्ञान ही जीव का लक्षण है, परन्तु कागभुशुण्डिजी ने जीव का लक्षण बताते हुए थोड़ा दूसरे ढंग से वर्णन किया है। वहाँ पर उन्होंने कहा कि जीव का भी वही लक्षण है, जो ईश्वर का है –

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ ७/११७/२

जीव ईश्वर का ही अंश है, इसलिए ईश्वर जैसे सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है, वैसे ही जीव भी सच्चिदानन्द-स्वरूप है। कहने का ढंग थोड़ा अलग है, परन्तु तत्त्वतः दोनों बात एक ही कहते हैं। कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि शुद्ध जीव माया के द्वारा बँधा हुआ है; तो लगता है कि माया के द्वारा बँधा होना ही वस्तुत: कोई समस्या है और आगे चलकर वे मान भी लेते हैं कि जीव को लग रहा है कि मैं बँधा हुआ हूँ, परन्तु आगे उन्होंने एक विचित्र बात कही और उसमें व्यंग्य है। उन्होंने कहा कि यह बन्धन कैसा है? जब माया ही नहीं है, तो बन्धन किसका? और जब माया और बन्धन दोनों नहीं है, तो समस्या क्या है? बोले – सबसे बड़ी समस्या तो यही है। अगर बन्धन वास्तविक हो, तो उसे खोलना भी सरल है। परन्तु बन्धन जहाँ भ्रमजन्य हो, वहाँ तो बड़ी समस्या है। अगर किसी के पैर में रस्सी बँधी

हो तो रस्सी खोल दें, पर अगर भ्रम हो जाय कि मेरे पैर में रस्सी बँधी हुई है, तो वह अपने पैर की रस्सी खोलने की चाहे जितनी भी चेष्टा करे, भ्रम की रस्सी तो खुलनेवाली नहीं है। यह अज्ञानजन्य तथा भ्रमजन्य बन्धन है – ऐसा कागभुशुण्डिजी का मत है। और श्रीराम कहते हैं –जो माया, ईश्वर और स्वयं को नहीं जानता वही जीव है –

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव ।। ३/१५

यही जीव का लक्षण है। इसका अभिप्राय है कि यदि वह इन तीनों को जान ले, तो वह उसका शुद्ध रूप है। तब वह ईश्वर का अंश ईश्वर-स्वरूप ही हो जाता है, उसमें और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता। जिसमें अज्ञान है, वही जीव है। यदि वह ईश्वर का स्वरूप जान ले, अपना स्वरूप जान ले, यदि उसे माया की अनिर्वचनीयता अथवा माया के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाय, ईश्वर से अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो जाय, तो यह ज्ञान होते ही वह ईश्वर-स्वरूप हो जाता है। कागभुशुण्डिजी कहते हैं –

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।। २/१२७/३

वेदान्त में सारा बल ज्ञान पर दिया जाता है परन्तु गोस्वामीजी ज्ञान पर बल नहीं देते। क्यों? क्योंकि उनके सामने एक समस्या यह है कि ज्ञान होने पर व्यक्ति कहता है – मैं ब्रह्म हूँ। अब यह वाक्य तो दोनों प्रकार से कहा जा सकता है – वेदान्त के चरम सत्य की दृष्टि से भी कहा जा सकता है और रावण की दृष्टि से भी। रावण भी तो ठीक यही बात कहता था। मन्दोदरी जब रावण से कहती है कि राम का विरोध छोड़कर उनके शरण हो जाओ, उनकी भक्ति करो। तुम उन्हें मनुष्य समझकर भूल कर रहे हो, वे मनुष्य नहीं स्वयं भगवान हैं। मन्दोदरी ने भगवान के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा कि यह विराट विश्व ही भगवान का स्वरूप है –

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ।। ६/१४
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा ।।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला ।। ६/१५/१-२

यह सब सुनकर रावण के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा? वह तो बड़ा पण्डित है। मन्दोदरी के भाषण की उसने व्याख्या की। कहने लगा – मन्दोदरी, मैं तो समझ रहा था कि तुम बड़ी मूर्ख हो, एक साधारण राजकुमार की प्रशसा में तुम इतनी बड़ी बड़ी बातें कह रही हो, परन्तु तुम्हारे भाषण पर गहराई से विचार करने के बाद मैं समझ गया कि तुम बड़ी तत्त्वज्ञानी हो। तुमने उस राजकुमार का नाम लेकर विराट् का जो वर्णन किया, तो मैं तुम्हारी चतुराई समझ गया। तुमने बड़ी गूढ़ बातें कही है। अब सिद्ध हो गया कि तुम क्या कह रही हो। मन्दोदरी ने पूछा – क्या अर्थ लिया आपने मेरे बातों का? रावण बोला –

जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहहु मोरि प्रभुताई ।।
तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि ।। ६/१६/६-७

यह तो तुमने मेरा ही वर्णन किया है। वस्तुतः राम मैं ही हूँ। 'सोऽहमस्मि' – वेदान्त के इस महावाक्य का अर्थ है – वह ईश्वर मैं ही हूँ। जब रावण भी कहता है कि मैं ही ईश्वर

या राम हूँ और वेदान्त में भी यही बात है, तो ऐसी स्थिति में समझना बड़ा कठिन हो जाता है कि जो बोल रहा है वह कहाँ से बोल रहा है? कभी कभी तो बड़ी अच्छी बात आ जाती है। जब बाली सुग्रीव से लड़ने चला, तो तारा ने बाली के चरणों को पकड़ लिया। 'मानस' में ये दो बड़े अनर्थकारी विवाह हुए हैं – एक तो तारा और बाली का और दूसरा मन्दोदरी और रावण का। ये ऐसे विवाह हुए, जिन्हें नहीं होना चाहिए था। आगे चलकर भगवान राम के चरित्र में इनका शोधन हुआ है।

भौतिक सन्दर्भ को छोड़कर आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसे देखें। कहा जाता है कि भगवान राम के द्वारा बाली का वध हो जाने पर तारा का परिणय सुग्रीव के साथ और रावण के वध के बाद मन्दोदरी का परिणय विभीषण के साथ हुआ। कई लोग सुनकर घबरा जाते हैं। कवितावली में लिखा है। इसे मैं थोड़ा स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा। इन दोनों विवाहों में समस्या क्या है? तारा का बाली से और मन्दोदरी का रावण से जुड़े रहना एक समस्या है और यही समस्या हम लोगों के जीवन में भी है। यह मिथ्या सम्बन्ध टूटकर जब तक वास्तविक सम्बन्ध की स्थापना नहीं होगी, तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। जब रामराज्य बनता है, तब इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इसे यदि केवल भौतिक सन्दर्भ में देखें, तो यह मर्यादा के विरुद्ध लगता है, पर आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसके बिना पूर्णता आ ही नहीं सकती। तारा अत्यन्त बुद्धिमती है। जिस समय बाली सुग्रीव से लड़ने चला, तो तारा ने उसे रोककर पूछा – कहाँ जा रहे हो? बाली ने कहा – तुम गर्जना नहीं सुन रही हो? क्या तुम समझती हो कि गर्जना सुनकर भी मैं घर में छिपा रहूँगा? यही बाली का स्वभाव है।

बाली रिपु बल सहै न पारा।। ४/६/३

बाली चुनौती को कभी सह नहीं पाता था। उसने ज्योंही सुना कि सुग्रीव गर्जना कर रहा है, तो वह उठ खड़ा हुआ और जाने लगा। तारा बोली – महाराज, गर्जना गर्जना में भेद है। – क्या? बोली – अगर गरजनेवाला गरजता तो मैं न रोकती, परन्तु कभी न गरजनेवाला आज गरज रहा है, तो जरूर चिन्ता की बात है। आपके डर से भागा भागा फिरनेवाला, आज गरज रहा है – समझ लीजिए कि इतने निर्बल और कायर व्यक्ति में आज इतना साहस कहाँ से आ गया कि वह आपको चुनौती दे रहा है? आप बिना सोचे-समझे जा रहे हैं। यह गर्जना वह अपने बल पर नहीं कर रहा है। – तो फिर किसके बल बर कर रहा है? कहा – सुग्रीव ने श्रीराम का आश्रय पा लिया है और श्रीराम इतने शक्तिशाली हैं कि वे तो काल को भी परास्त कर सकते हैं –

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा।।
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा।। ४/७/२८-२९

अत: काल को भी पराजित कर सकनेवाले का बल पाकर जो गरज रहा है, उससे लड़ने की चेष्टा आप मत कीजिए, क्योंकि आपको सुग्रीव से नहीं, अपितु जो सुग्रीव के पीछे है, उससे लड़ना है। राम केवल पेड़ के पीछे ही नहीं, गर्जना के पीछे भी थे। गर्जना के पीछे भी उन्हीं का शक्ति थी। तारा ने बाली को सावधान करने के लिए इतना ही कहा कि सुग्रीव ने राम से मित्रता कर ली है और वे दशरथ-पुत्र राम बड़े बलशाली हैं। बाली ने तुरन्त

कहा – तुम कैसी नासमझ हो, राम तो ईश्वर हैं और क्या तुम जानती हो कि ईश्वर का लक्षण क्या है? बाली ने वेदान्त सुना दिया – ईश्वर तो सम हैं, उनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। राम समदर्शी हैं। उनकी दृष्टि में मुझमें और सुग्रीव में कोई भेद हो ही नहीं सकता। लगता है कि तुम अज्ञानवश ही मुझे रोक रही हो। सिद्धान्त की दृष्टि से तो बाली की बात बिलकुल संगत प्रतीत हो रही है। गीता में भी यही लिखा हुआ है और रामायण में भी –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।। २/२१९/३

इस दृष्टि से तो बाली ने शास्त्रसम्मत बात कही, पर गोस्वामीजी ने सावधान कर दिया। बाली जब लड़ने चला, तो किसी ने गोस्वामीजी से कहा – महाराज, बाली भले ही लड़ने जा रहा हो, पर है वह पक्का ज्ञानी। गोस्वामीजी ने कहा – बिलकुल भी ज्ञानी नहीं है। – तब क्या है? बोले – वह ज्ञानी नहीं महा-अभिमानी है –

अस कहि चला महा अभिमानी।। ४/८/१

अभिमानी तथा स्वार्थी लोग अपनी वृत्ति के समर्थन में प्रायः ज्ञान, सिद्धान्त, शास्त्र, धर्म आदि की दुहाई देते हैं। उनके लिए ये सारी ज्ञान की बातें वस्तुतः ज्ञान के लिए नहीं, बल्कि बोलने की चतुराई के लिए होती हैं। वह चतुराई क्या है? – भाषा के प्रयोग से ज्ञान में अज्ञान उत्पन्न कर देना।

भाषा को हम सावधानी से बोलें। बिना सोचे-समझे न बोलें और दूसरों के तथा अपने स्वयं के मन में भ्रान्ति की सृष्टि न करें। जिस भाषा से दूसरों के मन में मिथ्या भ्रम उत्पन्न हो जाय, स्वयं अपने अन्तःकरण में मिथ्या अहंकार उत्पन्न हो जाय, वह भाषा अगर ज्ञान की हो, तो भी घातक है। इसीलिए आगे चलकर जब बाली ने भगवान से तर्क-वितर्क किया तो उन्होंने तत्काल कहा – बातें तो तू ज्ञानियों जैसे करता है, परन्तु ज्ञानी बिलकुल नहीं है। – महाराज, यह आपने कैसे समझ लिया कि मैं ज्ञानी नहीं हूँ? भगवान बोले –

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।। ४/९/९

– ज्ञानी तो तुम्हारी पत्नी है, वह बुद्धिमती है। वह तुम्हें सत्य का साक्षात्कार करा देने की चेष्टा कर रही थी और तुम उसे अपना शाब्दिक ज्ञान सुना रहे थे, ईश्वर के समत्व का सिद्धान्त सुना रहे थे। तुम्हारे इस ज्ञान और सिद्धान्त का यही अर्थ है कि इसकी आड़ में तुम मूढ़ की तरह मनमाने विषम आचरण करो? क्या तुम्हारे इस सिद्धान्त ने तुम्हें इतनी छूट दे रखी है कि तुम जो चाहो सो करो। क्या इस सिद्धान्त का यही अर्थ है? यह तो तुमने खूब अर्थ लिया कि ईश्वर न पाप देखता है, न पुण्य। इससे बढ़िया सिद्धान्त तुम्हारे लिए और क्या होगा? सिद्धान्ततः यह सत्य है कि ईश्वर सम है। भगवान कह ही रहे हैं गीता में –

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। ९/२९

– मैं सर्वभूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न मेरा कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रगट हूँ।

रामायण में भी कहा ही जा रहा है –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहि न पाप पूनु गुन दोषू॥ २/२१८/३

किन्तु क्या इसका अर्थ यही है कि निश्चिन्त होकर पाप करना चाहिए? क्या समत्व का सिद्धान्त निश्चिन्त होकर पाप करने की प्रेरणा देने के लिए ही है? ऐसा तो नहीं है। यह सत्य है कि ईश्वर सम हैं, परन्तु आपको क्या लगता है? कैसा अनुभव होता है? जिसने अनुभव किया है, उसने अपना अनुभव बता दिया, परन्तु क्या सुनने मात्र से वह सिद्ध हो गया? पहले देखिए कि दिखाई क्या दे रहा है, पहले आप उसी को समझ लीजिए। जब समत्व दिखाई देने लगे, तब आप समत्व की बात कहिए। गीता में भी यही बात जुड़ी हुई है और भगवान राम हनुमानजी से यही कहते हैं –

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ ४/३/८

हनुमानजी को हृदय से लगाकर यहाँ तक कह दिया कि –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४/३/७

– हनुमान, तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो। हनुमानजी आश्चर्य से मुँह देखने लगे। वे तो सारे शास्त्रों के पण्डित हैं। बोले, "महाराज, मैंने तो सुना था कि आपके यहाँ सब सम ही सम है, यह दूना, चौगुना कब से होने लगा? यह आप कैसे कहने लगे कि तुम लक्ष्मण से दूने प्यारे हो। अगर समता का सिद्धान्त है तो कह देते कि तुम लक्ष्मण के समान प्रिय हो।" भगवान राम ने कहा – "हनुमान, तुम जो कह रहे हो, शास्त्र भी यही कहते हैं, परन्तु मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि यह समदर्शित्व संतुलित कब रहेगा? ज्ञान के समदर्शित्व को भक्ति से जोड़ दो, तो वह समाज के लिए कल्याणकारी हो जाएगा।" समाज के लिए कल्याणकारी कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान भले ही पाप और पुण्य में सम हों, परन्तु भक्त तो नहीं है। उसकी दृष्टि में तो पाप और पुण्य में भेद है और भगवान स्वयं कहते हैं कि मैं भक्त के वश मैं हूँ; भक्त जो कहेगा, मैं वही करूँगा। भगवान की दृष्टि में पाप-पुण्य, सद्गुण-दुर्गुण, सद्विचार-दुर्विचार, राक्षस और देवता में भेद भले ही न हो, परन्तु भक्त जब कहता है कि पाप को, दुर्गुण-दुर्विचार को, राक्षसों को मिटा दीजिए, तो वे अवश्य मिटा देते हैं। इसलिए भगवान यह कह देते हैं – यद्यपि सभी लोग मुझे समदर्शी कहते हैं, तथापि हनुमान, मेरी यह स्पष्ट घोषणा है कि –

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ ४/३/८

–यद्यपि सभी लोग मुझे समदर्शी कहते हैं, मेरे लिए कोई प्रिय-अप्रिय नहीं है, तथापि अनन्यगति होने के कारण मेरा सेवक मुझे विशेष प्रिय है।

यहीं से ज्ञान के साथ भक्ति सिद्धान्त जुड़ गया, रामायण में भी और गीता में भी।

□(क्रमशः)□
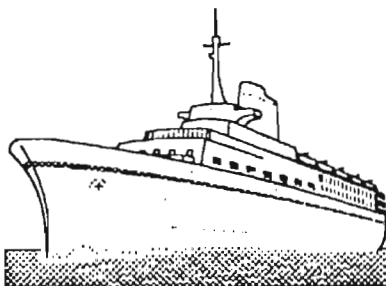
माँ के सान्निध्य में (५०)

अज्ञात

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी के प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद अनेक वर्षों से विवेक-ज्योति में प्रकाशित हो रहे हैं। इस बीच अब तक प्रकाशित अंश 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद। – सं.)

श्रीमाँ जब कोठार में थीं, उस समय मेरे मँझले भैया ने पुरीधाम के 'शशि-निकेतन' से हमारे ग्रामवासी अपने एक मित्र को पत्र द्वारा सूचित किया – "श्रीमाँ इस समय कोठार में हैं, तुम लोग उनका दर्शन करने आ सकते हो।" इसके पूर्व श्रीमाँ तथा ठाकुर के विषय में एक मोटी-सी धारणा को छोड़ मैं विशेष कुछ नहीं जानता था और न ही मैंने इस सम्बन्ध में कोई पुस्तक ही पढ़ी थी। परन्तु यह समाचार पाने के बाद से ही मेरा मन उनके दर्शन पाने को व्याकुल हो उठा। दो-चार दिन इसी प्रकार व्याकुल रहने के बाद मैं उनका दर्शन करने कोठार गया। वहाँ मैं लगभग बारह बजे के बाद पहुँचा। परन्तु वहाँ पहुँचने के बाद मेरे मन में उतनी व्याकुलता नहीं रह गयी थी। तभी भक्तों को प्रसाद पाने के लिए बुलावा आया और मैं भी उन लोगों के साथ भीतर जा पहुँचा। प्रसाद ग्रहण करने के बाद पूजनीय कृष्णलाल महाराज, केदार बाबा और हम लोग बैठकखाने में बैठे थे, तभी (बलराम बाबू के पुत्र) रामबाबू ने आकर कृष्णलाल महाराज से कहा, "जो लड़का कटक से आया है, माँ उसे बुला रही हैं। वह अब जाकर प्रणाम कर आये।" कृष्णलाल महाराज बोले, "उसे मैंने कहा है, वह अपराह्न में माँ के दर्शन करने जायेगा।"

रामबाबू ने कहा, "नहीं, माँ प्रतीक्षा कर रही हैं, दर्शन कर आने के बाद वे भोजन करने जायेंगी।" मैं रामबाबू के साथ जाकर माँ को प्रणाम कर आया, कोई बातचीत नहीं हुई। अगले दिन मैं घर लौट आया।

घर लौटकर मन व्याकुल होने पर मैं पुनः कोठार गया और वहाँ दो-चार दिन रहने के बाद एक दिन सुबह श्रीमाँ के पास जाकर उनका दर्शन करने के बाद बोला, "माँ, कल सुबह मैं घर जाऊँगा।"

माँ ने कहा, "ठीक है, कल रह जाओ, परसों जाना।" इतनी बात होने के बाद मैं बाहर चला आया। थोड़ी देर बाद एक संन्यासी महाराज ने आकर मुझसे कहा, "तुम्हारे ऊपर माँ की दया हुई है, कल सुबह स्नान करके तैयार रहना।" मैं सोचने लगा – 'दया' क्या चीज है? परन्तु कुछ न समझ पाकर चुप रहा। अगले दिन सुबह स्नान करके अकेले बैठा था, तभी राधू दीदी ने आकर कहा, "बैकुण्ठ बाबू कौन हैं? माँ उन्हें बुला रही हैं।"

मैं बोला, "मेरा ही नाम बैकुण्ठ है। मैं माँ के पास जाऊँगा।"

राधूदीदी की सहमति पाकर मैं उनके साथ जाकर श्रीमाँ के समक्ष उपस्थित हुआ। माँ मुझे देखकर बोलीं, "आओ, इस कमरे के भीतर आ जाओ।" इसके बाद उन्होंने पूछा, "तुम मंत्र लोगे?"

मैंने कहा – आपकी इच्छा हो तो दीजिए। मैं तो कुछ भी नहीं जानता।

माँ ने कहा – ठीक है, यहाँ बैठो।

माँ – तुम किस देवता का मंत्र लोगे?

मैं बोला – मैं कुछ भी नहीं जानता।

माँ ने कहा, "ठीक है, तुम्हारे लिए यही मंत्र अच्छा है।" (१९११ ई. की जनवरी-फरवरी में) माँ से मुझे उसी दिन दीक्षा मिली थी। उसी समय एक दिन मैंने माँ से पूछा था, "माँ, योग सीखने के लिए गुरु किया जा सकता है, या नहीं?" उत्तर में माँ ने कहा था, "अन्य विषयों के लिए तुम गुरु कर सकते हो, परन्तु दीक्षागुरु दुबारा नहीं करना चाहिए।"

जिस दिन मैं कोठार से प्रस्थान करनेवाला था, उसकी पिछली रात को लगभग बारह बजे, हाथ में थोड़ी-सी मिठाइयाँ लिए रामबाबू ने मुझे निद्रा से जगाकर कहा, "बैकुण्ठ, माँ ने ये मिठाइयाँ दी हैं, तुम इन्हें साथ ले जाना। रास्ते में बाजार का कुछ खरीदकर खाने से माँ ने मना किया है।"

एक दिन मैं अकेले ही श्रीमाँ का दर्शन करने गया था। माँ तब कुछ दिनों के लिए जयरामबाटी से कामारपुकुर आयी हुई थीं। मेरे लिए भी कामारपुकुर की यह पहली यात्रा थी। श्रीयुत रामलाल दादा तथा लक्ष्मी दीदी उन दिनों कामारपुकुर में ही थे। पहले दिन रामलाल दादा और मैं बरामदे में भोजन के लिए बैठे हुए थे। माँ बीच बीच में हम लोगों को खाना परोस रही थीं और मुझे कह रही थीं, "बैकुण्ठ, सब खा लेना, पत्तल में कुछ छोड़ना मत।" यह बात कहते हुए वे और भी चीजें मेरे पत्तल में डालने लगीं। रामलाल दादा भी कह रहे थे, "और खाओ, संकोच मत करो।" उस समय मैंने इतना खा लिया था कि पेट में जगह नहीं थी, परन्तु मैं संकोशवश कुछ बोल भी नहीं पा रहा था। रामलाल दादा की यह बात सुनकर माँ ने कहा, "रहने दो, यह पगला लड़का है, जो खा लिया – खा लिया, इसे और कुछ मत कहो" और मुझसे बोलीं, "बैकुण्ठ, अब पत्तल, गिलास, कटोरी आदि उठाकर ले जाओ, गुरुगृह[१] में यह सब छोड़ना नहीं चाहिए।"

दूसरे दिन उन्हें प्रणाम करने गया, तो माँ ने पूछा, "तुम घर कब लौट रहे हो?"

मैंने कहा, "माँ, मेरा बेलूड़ मठ देखना नहीं हुआ है, मठ हो आने के बाद ही घर जाऊँगा।"

इस पर माँ बोलीं, "अभी मठ जाने की जरूरत नहीं, तुम आज ही घर चले जाओ।"

मैंने कहा, "माँ, इतनी दूर आया हूँ। एक बार मठ गये बिना घर नहीं लौटूँगा।"

माँ ने कहा, "नहीं, तुम घर जाओ, गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।"

इतना सुनने के बाद मैंने और कोई आपत्ति नहीं दिखाई, परन्तु मन-ही-मन सोच लिया कि यहाँ से निकलते ही मठ चला जाऊँगा और तब माँ जान भी नहीं सकेंगी। उसी समय

१. यहाँ पर गुरुगृह से श्रीमाँ का तात्पर्य ठाकुर के घर से ही था। क्योंकि वे स्वयं ही इन भक्तों की गुरु होने पर भी जयरामबाटी में निवास के दौरान कभी उन लोगों को जूठन उठाने नहीं देती थीं। दास-दासियों के द्वारा सफाई करातीं, कभी कभी स्वयं भी करतीं – गुरु होकर भी वे 'माँ' जो थीं; तथापि जूठे पत्तलों के हवा में उड़ने से असुविधा हो सकती है, इस कारण कभी कभी भक्तगण केवल पत्तल को उठाकर ले जाते थे।

इलाहाबाद से एक महिला और उनके साथ एक पुरुष-भक्त भी आये हुए थे। माँ ने उन लोगों को उसी दिन दीक्षा प्रदान किया। इसके बाद माँ ने मुझे बुलाकर कहा, "तुम इन लोगों के साथ जाओ।" परन्तु उन लोगों के यह कहने पर कि उन्हें मेरे साथ जाने से असुविधा होगी – मैं नहीं गया। उन्हें विदा करने को माँ मुख्य द्वार तक आयी थीं। इसके पूर्व मुख्य द्वार के आले में मैंने अपने रुपयों का बटुआ रख छोड़ा था। उस आले पर ध्यान जाने पर माँ ने बटुए को उठाकर घर में रख लिया था। इसके बाद उन्होंने लक्ष्मी दीदी को भेजकर मुझसे पुछवाया, "बैकुण्ठ ने अपने बटुए का क्या किया।" यह बात सुनकर मैंने वहाँ जाकर उसे ढूँढ़ा, परन्तु न पाने पर लक्ष्मी दीदी ने जाकर यह समाचार माँ को दिया। माँ ने मुझे बुलवा कर कहा, "इतनी लापरवाही होने पर क्या संसार चलता है? जिसमें इतनी भी सावधानी नहीं है, वह भला गृहस्थी कैसे चलाएगा? तुम्हारा बटुआ मेरे पास है। तुम उन लोगों के साथ गये क्यों नहीं?" मेरे कारण बताने पर माँ ने उन लोगों के प्रति नाराजगी जाहिर की। मैंने कहा, "आप इसके लिए इतनी परेशान क्यों हो रही हैं, मैं एक आदमी साथ लेकर कल जाऊँगा।" यह सुनकर माँ अपने कमरे में चली गयीं।

उस दिन दोपहर के समय उन्होंने मुझे भीतर बुलवाकर कहा, "इन पत्रों को खोलकर पढ़ो, देखूँ क्या समाचार है।" मैंने वे पत्र पढ़े। उनमें से एक की बात विशेष रूप से याद है – बागबाजार मठ से आये हुए उस पत्र में लिखा था कि पूजनीय शशी महाराज एक बार माँ को देखना चाहते हैं और माँ उन्हें जो चिकित्सा कराने को कहेंगी, वे वही चिकित्सा लेना चाहेंगे। माँ ने पत्र सुनकर कहा, "मैं भला चिकित्सा के बारे में क्या कहूँगी? शरत्, राखाल और बाबूराम हैं; वे लोग सलाह करके जो उचित समझें, वैसा ही करें। मेरे वहाँ जाने से तो रोगी को वहाँ से हटाना होगा। यह क्या उचित होगा? ऐसे रोगी को क्या हटाया जाता है? मैं नहीं जाऊँगी। यदि शशी को कुछ भला-बुरा हुआ, तो क्या मैं वहाँ रह सकूँगी? तुम समझाकर लिख दो तो – मैं इस इस कारण से नहीं जाऊँगी।"

अगले दिन प्रसाद पाने के बाद घर के लिए विदा लेने को घर के भीतर जाकर मैंने देखा कि माँ अपने कमरे के बरामदे में पान लगा रही हैं। मुझे देखकर उन्होंने पूछा, "क्या तुमने रघुवीर को प्रणाम किया?"

मैं बोला, "नहीं, माँ।"

इस पर माँ ने कहा, "यहाँ आने पर कुछ देना चाहिए। तुम रघुवीर को प्रणाम करके कुछ प्रणामी देना। तुम्हारे पास यदि रुपये-पैसे न हों, तो मेरे पास से ले लेना।"

मैं बोला, "नहीं, मेरे पास रुपये हैं।" इतना कहकर मैं रघुवीर को प्रणाम कर आया। विदा लेने के पूर्व मैं माँ को प्रणाम करके उठ रहा था, तभी माँ सहसा कह उठीं, "बैकुण्ठ, मुझे पुकारते रहना।" इसके बाद वे तत्काल ही फिर बोलीं, "ठाकुर को पुकारना, ठाकुर को पुकारने से ही सब होगा।"

उस समय लक्ष्मी दीदी वहाँ उपस्थित थीं। वे कह उठीं, "नहीं, माँ, यह कैसी बात? यह तो बड़ा अनुचित है! लड़कों को इस प्रकार बहलाने से वे लोग क्या करेंगे?"

माँ बोलीं, "कहाँ, मैंने क्या किया?"

लक्ष्मी दीदी – माँ तुमने अभी अभी बैकुण्ठ को कहा, 'मुझे पुकारना' और उसके बाद कहती हो, 'ठाकुर को पुकारना'।

माँ ने कहा, "ठाकुर को पुकारने से ही तो सब हो गया।"

तब लक्ष्मी दीदी ने कहा, "माँ, इस प्रकार तुम्हारा बहलाना बिल्कुल अनुचित है।" और मुझसे विशेष रूप से बोलीं, "देखो बैकुण्ठ, आज मैंने माँ के मुख से यह नई बात सुनी कि 'मुझे पुकारना'। तुम यह बात बिल्कुल भी मत भूलना। ठाकुर और कौन हैं? तुम माँ को ही पुकारना। तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है कि माँ ने स्वयं ही तुमको यह बता दिया है। तुम माँ को ही पुकारना।" मुझसे इतना कहने के बाद वे माँ से बोलीं, "क्यों माँ, अब तो ठीक हुआ न?" लक्ष्मी दीदी की इस बात पर माँ ने मौन रहकर अपनी सहमति का संकेत दिया था।

लौटते समय माँ ने मुझसे फिर कहा, "तुम यहाँ से सीधे घर जाना। अभी मठ या इधर-उधर कहीं भी जाने की जरूरत नहीं है। घर जाकर माँ-बाप की सेवा करो। इस समय पिता की सेवा करना ही उचित है।" इतना कहने के बाद उन्होंने मेरे हाथ में चार बीड़े पान देकर मुझसे प्रस्थान करने को कहा। मैंने भी माँ का आदेश शिरोधार्य करके अपने पिछले संकल्प को त्याग दिया और कोयलपाड़ा मठ होते हुए घर लौट आया। जाते समय मैं पिताजी को स्वस्थ देख गया था। परन्तु घर लौटकर मैंने पाया कि पिताजी को बड़ा ही भयंकर रोग हुआ है। मेरे लौटने के छह-सात दिन बाद ही उन्होंने परलोक-गमन किया।

अगली बार कामारपुकुर जाते समय मेरे एक गुरुभाई ने मेरे हाथ माँ के लिए एक पत्र भेजा था। वह पत्र माँ को देते समय वे बोलीं, "तुम्हीं खोलकर पढ़ो।" उसमें निम्नलिखित दो प्रश्न लिखे थे – (१) "मैं नौकरी करने जा रहा हूँ। माँ, नौकरी करने से क्या मैं माया में लिप्त हो जाऊँगा?" सुनकर माँ बोलीं, "नौकरी करने से भला माया में क्यों फँसेगा?" (२) "विवाह करने से मेरा भला होगा या नहीं।" इसके उत्तर में माँ ने कुछ कहे बिना मुझसे पूछा, "बेटा, तुमने विवाह किया है क्या?" मैं बोला, "नहीं माँ, मेरा विवाह नहीं हुआ है।" सुनकर वे बोलीं, "बहुत अच्छा, तुम विवाह मत करना, विवाह करने से बड़ा जंजाल हो जाता है।"

उन्हीं दिनों एक बार मैंने माँ से कहा था, "माँ, मैं आपके चरणचिह्न लेना चाहता हूँ।" इस पर उन्होंने कहा था, "यहाँ अभी सुविधा नहीं होगी। तुम लोग मुझे जिस दृष्टि से देखते हो, सभी तो वैसा नहीं देखते। यहाँ लाहा बाबुओं के घर से बहुत-से लोग आते-जाते रहते हैं। इस कारण मुझे छिपकर रहना होगा – पाँव में आलता का चिह्न रह जायगा न!"

□(क्रमशः)□
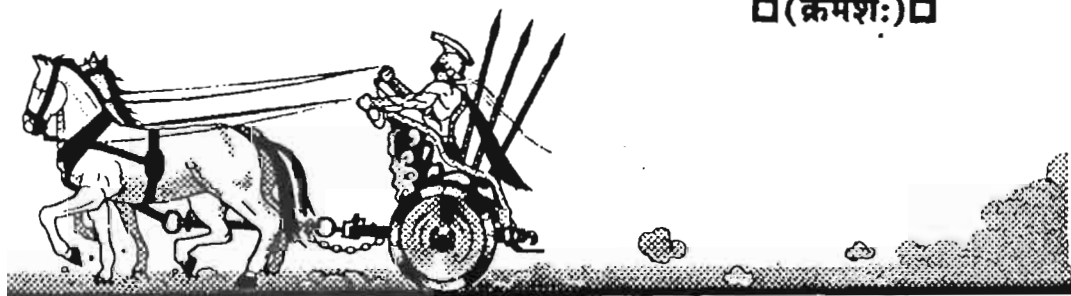
मनुस्मृति का परिचय

प्रज्ञाभारती डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(भारतीय परम्परा में दो प्रकार के शास्त्र माने जाते हैं – श्रुति और स्मृति। श्रुति अर्थात वेदों में युगों पूर्व आविष्कृत धर्म के सनातन तत्त्वों का संग्रह है और स्मृतियों में, स्थान-काल की विभिन्नता के अनुसार उनकी प्रयोज्यता का निरूपण किया गया है। वेदों के अतिरिक्त बाकी समस्त शास्त्रों को मोटे तौर पर स्मृति की संज्ञा दी जाती है, जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों की गणना होती है। इन स्मृतियों में भगवान मनु द्वारा रचित 'मनुस्मृति' ग्रन्थ का अपना विशिष्ट महत्व है और यह भारत की सामाजिक परम्परा को समझने के लिए एक आधारभूत ग्रन्थ है। वर्तमान लेख में मूर्धन्य लेखक ने इसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ का सहज परिचय कराया है। – सं.)

हिन्दू समाज के धर्मशास्त्र विषयक स्मृति वाङ्मय में मनुस्मृति का स्थान अग्रगण्य है। संस्कृत वाङ्मय में 'मनु' नाम का उल्लेख ऋग्वेद, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ताण्ड्य महाब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, महाभारत के शान्तिपर्व, निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में आया है। साथ ही मनुर्वै यत् किं च अवदत् तद् भेषजम् – मनु ने जो कुछ कहा है, वह औषधि है – ऐसे स्तुतिवचन मनुप्रणीत शास्त्र के विषय में तैत्तिरीय संहिता, ताण्ड्य ब्राह्मण जैसे श्रेष्ठ ग्रंथों में मिलते हैं।

वर्तमान मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया – यह एक विवाद का विषय हुआ है। मैक्समूलर तथा बूह्लर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे मानवधर्मसूत्र नामक ग्रन्थ का संशोधित रूप माना है, परन्तु भारतरत्न महामहोपाध्याय पी. वी. काणे ने उन लोगों की इस धारणा का सप्रमाण खण्डन किया है।

वर्तमान मनुस्मृति में इसके लेखक को 'स्वायंभुव मनु' कहा गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ छह अन्य मनुओं की चर्चा की गयी है (परन्तु उनमें प्राचेतस मनु की गणना नहीं हुई है)। ब्रह्मा ने मनु को शास्त्राध्ययन कराया और मनु ने दस ऋषियों को वह ज्ञान दिया (मनु. १/५८)। कुछ बड़े ऋषियों द्वारा मनु से, वर्णों एवं जातियों के धर्मों (अर्थात कर्तव्यों) का ज्ञान पाने के लिए प्रार्थना करने पर मनु ने उनसे कहा कि यह कार्य उनके शिष्य भृगु करेंगे (वही, १/५९/६०)। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर 'मनुरब्रवीत', 'मनुराह', 'मनोः अनुशासनम्' जैसे वाक्य मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान मनुस्मृति ग्रन्थ, मनु द्वारा प्रथम प्रतिपादित धर्मशास्त्र का अनु-व्याख्यान है। महाभारत के शान्तिपर्व, नारदस्मृति, मार्कण्डेय पुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मूल रूप में विस्तीर्ण धर्मशास्त्र के संक्षेपण का उल्लेख आया है।

वर्तमान मनुस्मृति का सर्वप्रथम मुद्रण सन् १८१३ ई. में कलकत्ता में हुआ। बाद में इसके अनेकानेक संस्करण तथा विविध भाषाओं में अनुवाद यत्र-तत्र प्रकाशित होते रहे। अभी कुछ वर्षों पूर्व मुम्बई के 'भारतीय विद्याभवन' ने अनेक टीकाओं सहित मनुस्मृति का एक उत्तम संस्करण प्रकाशित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अध्याय एवं २६९४ श्लोकों में धर्म तथा अर्थ नामक पुरुषार्थों में अन्तर्भूत होनेवाले प्रायः सभी लौकिक व्यवहारों से सम्बन्धित विषयों का प्रासादयुक्त भाषा में सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में

प्रतिपादित सिद्धान्त गौतम, बौधायन तथा आपतम्ब धर्मसूत्रों और कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्य प्रमाणों के आधार पर वर्तमान मनुस्मृति का समय ईसापूर्व दूसरी से ईसापूर्व चौथी शताब्दी के दौरान माना गया है। महामहोपाध्याय काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में इन सभी प्रमाणों का यथोचित उल्लेख किया है। प्रस्तुत मनुस्मृति की सबसे विस्तृत टीका मेधातिथि की है, जिनका समय ८२० ई. के बाद का निर्धारित हुआ है। अन्य टीका-ग्रन्थों में कुल्लूक भट्ट (जो बंगाल के बारेन्द्र कुल के नन्दननिवासी भट्टदिवाकर के पुत्र थे) कृत 'मन्वर्थमुक्तावली' टीका सर्वोत्तम मानी जाती है। कुल्लूक भट्ट का समय म.म. काणे के मतानुसार ११५०-१३०० ई. के बीच का है। मेधातिथि ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों के नाम का उल्लेख किया है, परन्तु वे टीकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। मनुस्मृति का प्रामाण्य भारत के बाहर चम्पा, ब्रह्मदेश एवं बाली द्वीप में भी माना जाता था। इसका स्पष्ट कारण इसमें प्रतिपादित विषयों की विविधता एवं मौलिकता है। प्रस्तुत लेख की सीमा को ध्यान में रखते हुए हम संक्षेपतः उन विषयों का अध्यायों के क्रमानुसार परिचय कराते हैं।

प्रथम अध्याय – में वर्ण-धर्म का ज्ञान पाने को उपस्थित ऋषियों के समक्ष सांख्य मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति, निमिष से वर्ष तक काल की इकाइयाँ, चार युग, ब्रह्मा के दिन-रात, चारों युगों के विभिन्न धर्म एवं लक्ष्य, चारों वर्णों के विशेषाधिकार एवं कर्तव्य, मन्वन्तर, सृष्टि-प्रलय आदि विषयों के साथ पूरे ग्रन्थ की विषयसूची का निवेदन हुआ है।

द्वितीय अध्याय – में धर्म की परिभाषा, उसके उपादान, धर्मशास्त्र के अधिकारी, भारत के अन्तर्गत ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त – इन पवित्र प्रदेशों की सीमाएँ, जातकर्म, नामकरण आदि संस्कार और उपनयन तथा ब्रह्मचर्याश्रमी के कर्तव्यों का निरूपण हुआ है।

तृतीय अध्याय – में ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के बाद समावर्तन विधि, विवाह के आठ प्रकार, वधू-वर की युक्तता-अयुक्तता, गृहस्थाश्रम के विविध कर्तव्य और श्राद्ध-विधि का विवेचन किया है।

चतुर्थ अध्याय – में गृहस्थ की जीवन-विधि एवं वृत्ति, स्नातक का आचार, अनध्याय के नियम, वर्जित एवं अवर्जित भोज्य और पेय की चर्चा है।

पंचम अध्याय – में शाकाहार एवं मांसाहार भोजन, जनन-अशौच तथा मरण-अशौच, सपिण्ड एवं समानोदक की परिभाषा, विभिन्न प्रकार से विभिन्न वस्तुओं के स्पर्श से पवित्रीकरण, पत्नी एवं विधवा के कर्तव्य का विवेचन हुआ है।

षष्ठ अध्याय – में वानप्रस्थाश्रमी की जीवनचर्या, परिव्राजक अर्थात संन्यासाश्रमी के विधि-निषेध बताये गये हैं और गृहस्थाश्रम की प्रशंसा की गयी है।

सप्तम अध्याय – में राज्यशास्त्र विषय का प्रतिपादन करते हुए, राजधर्म, राजा के विविध गुण-अवगुण, मन्त्रिपरिषद, उत्तम दूत, दुर्ग, राजधानी, भिन्न भिन्न विभागों के अध्यक्ष, युद्ध-नियम, साम, दाम, भेद, दण्ड, कर-नियम, बारह राजाओं का मण्डल,

अन्य राज्यों से सन्धि और युद्ध आदि छह विषयों पर चर्चा की गयी है। (इस अध्याय में मनु ने सूचित किया है कि राजनीति भी धर्मशास्त्र का ही एक अंग है।)

अष्टम अध्याय – में राजा एवं न्यायाधीश के कर्तव्य बताए गये हैं, जिनमें विधवा, असहाय तथा नाबालिग आदि प्रकार के प्रजाजनों का पालन आवश्यक बताया गया है, व्यवहारों के १८ नाम, चोरी, ऋण, न्यायालयीन अभियोग, साक्ष्य के अयोग्य व्यक्ति, शारीरिक दण्ड में विवेक, अर्थदण्ड, ब्याज के दर, नाबालिग की भू-सम्पत्ति, पिता के ऋण और पुत्र का दायित्व, स्वामित्व का अधिकार, मजदूरी के नियम, गाँववालों के झगड़े, सीमा-मारपीट, डकैती, बलात्कार, व्यभिचार आदि के प्रश्न, मृत्युदण्ड के पात्र व अपात्र, दासों के सात प्रकार आदि लोकजीवन से सम्बन्धित विविध विषयों का विवेचन हुआ है।

नवम अध्याय – में आठवें अध्याय के प्रतिपाद्य विषय का ही विस्तारण हुआ है। इसमें पति-पत्नी के न्याय्य कर्तव्य, पातिव्रत्य की प्रशंसा, सन्तान का स्वामित्व, नियोग-विधि, विवाह-व्यवस्था, बहुपत्नीत्व, वर्णसंकर, दत्तक पुत्र-पुत्रियाँ, बारह प्रकार के पुत्र, पिण्डदान का अधिकारी, धन का उत्तराधिकारी, ब्राह्मण के धन का उत्तराधिकारी, स्त्रीधन के प्रकार और उसका उत्तराधिकार, द्यूत, पंच महापातक तथा उनके प्रायश्चित्त, राज्य के सात अंग (यह विषय वस्तुतः सप्तम अध्याय से सम्बन्धित है) और वैश्य तथा शूद्र वर्णों के कर्तव्य का विवरण दिया गया है।

दशम अध्याय – में चारों वर्णों के विशेषाधिकार एवं कर्तव्य, मिश्रित जातियाँ तथा म्लेच्छ-यवन-शकों के आचार-नियम, ब्राह्मणों के आपद्धर्म की चर्चा है।

एकादश अध्याय – में दान की प्रशंसा, प्रायश्चित्त के विषय में विविध मत, पूर्वजन्म के पाप तथा तन्मूलक रोग एवं शरीरदोष, पातकों एवं उपपातकों के प्रायश्चित्त, सान्तपन, पराक, चान्द्रायण, जैसे पापनाशक कृच्छ्र व्रतों और पवित्र मन्त्रों का निरूपण है।

द्वादश अध्याय – में कर्म-विवेचन, सकाम व निष्काम कर्म, क्षेत्रज्ञ या जीव का स्वरूप, त्रिगुण, नरक, स्वर्ग, निःश्रेयस (अर्थात मोक्ष), आत्मज्ञान का महत्व, उसी से परमानन्द की प्राप्ति, वेदस्तुति, तर्क का स्थान, शिष्ट-परिषद तथा मानवशास्त्र के अध्ययन का फल बताया गया है।

इस प्रकार वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विविध विषयों पर मनुस्मृति में जो अधिकृत विवरण दिया गया है, वही हिन्दू समाज के परम्परा-प्राप्त आचार धर्म का प्रमुख आधार है। यह प्रतिपादन पूर्ववर्ती अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। इसी कारण उत्तरकालीन विश्वरूप (याज्ञवल्क्य-स्मृति के श्रेष्ठ टीकाकार) श्री शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, शबर स्वामी (जैमिनीसूत्र के भाष्यकार) जैसे अनेक स्वनामधन्य ग्रन्थकारों ने अपने विश्वमान्य ग्रन्थों में मनुस्मृति के सैकड़ों वचन उद्धृत करते हुए 'यद्वै किंचन मनुरब्रवीत् तद् भेषजम्' इस सदुक्ति की पुष्टि की है। □

चरित्र का आधार

स्वामी सत्यरूपानन्द

अंग्रेजी में एक कहावत है – यदि धन की हानि हुई तो वह कोई हानि नहीं है किन्तु यदि स्वास्थ्य की हानि हुई तो वह बड़ी हानि है और यदि चरित्र की हानि हुई तो वह सर्वनाश ही है।

यह कहावत जीवन में हमें दिशा दे सकती है। आज के इस भौतिकवादी युग में लोगों की धारणा हो गई है कि जीवन की सफलता व सुख के लिए धन ही सब कुछ है। बिना धन के मनुष्य न सफल हो सकता है और न सुख ही प्राप्त कर सकता है। पर यह धारणा सत्य से परे है।

जीवन यापन के लिये धन की आवश्यकता तो है किन्तु धन ही सर्वस्व नहीं है। धन कमाना ही मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है। अच्छा स्वास्थ्य सुखी और सफल जीवन की एक मौलिक जरूरत है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है। मन स्वस्थ और शरीर सबल हो तभी जीवन में सफलता भी मिलती है। अतः हमें सदैव ध्यान रखना होगा कि हमारे शरीर तथा मन स्वस्थ और सबल रहें। यदि कभी किसी कारण से स्वास्थ्य की हानि हो तो तुरन्त ही सावधान होकर पुनः स्वास्थ्य-लाभ का भरसक प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि स्वास्थ्य की हानि जीवन की बहुत बड़ी हानि है। स्वस्थ व्यक्ति ही जीवन को सफल व सार्थक बनाने में समर्थ होता है।

जीवन की सबसे बड़ी हानि है, चरित्र की हानि। यदि व्यक्ति का चरित्र गिर गया, उसके चरित्र की हानि हो गई तो उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः हमें पूर्णतः सजग और सावधान होकर अपने चरित्ररूपी महान धन की रक्षा में सदैव तत्पर रहना चाहिये।

यह इसलिये आवश्यक है कि चरित्र हमारे पहिनने के वस्त्र या मेज-कुर्सी आदि के समान कोई पूर्णतः निर्मित वस्तु नहीं है कि वस्तु बनकर तैयार हुई और हमने उसका उपयोग प्रारम्भ कर दिया। अब उसमें किसी सुधार की आवश्यकता नहीं है। बस, वस्तु का उपयोग किये चलिये।

चरित्र तो क्रमशः निर्माण, सुधार और उन्नति की निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया है। यदि चरित्र की निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया शिथिल हुई तो चरित्र का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है तथा धीरे धीरे चरित्र नष्ट हो जाता है।

चरित्र के मौलिक आधार हैं पवित्रता, निस्वार्थता और प्रेम। चरित्र निर्माण की प्रक्रिया है आत्म निग्रह। यदि व्यक्ति में आत्म निग्रह न हो तो उसके जीवन में पवित्रता, निस्वार्थता और प्रेम नहीं आ सकते। अतः उसका चरित्र निर्माण भी नहीं हो सकता। ये सभी सात्विक गुण सतत वर्धमानशील होते हैं। इनका निरन्तर आचरण और विकास करते रहने पर तब कहीं चरित्र का निर्माण होता है। प्रत्येक चरित्रवान व्यक्ति अथक परिश्रमपूर्वक अपने जीवन में इन गुणों का आचरण करता है इसलिए वह चरित्रवान होता है।

जिस समाज में सतत प्रयत्नशील चरित्रवान लोगों की संख्या जितनी अधिक होती है वह उतना ही उन्नत, सुसंस्कृत तथा समृद्ध होता है। अत: स्वयं के चरित्र का निर्माण कर हम समाज की भी महती सेवा कर सकते हैं। देश की उन्नति व समृद्धि का रहस्य भी उत्तम चरित्र ही है।

श्रीरामकृष्ण की जीवनगाथा

स्वामी प्रेमेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक अत्यन्त वरिष्ठ तथा सम्माननीय संन्यासी द्वारा सुललित बँगला भाषा में लिखित यह संक्षिप्त जीवनी अब से लगभग ८० वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। इसकी भूमिका में स्वामी सारदानन्द जी ने लिखा है, "लघुकाय होने पर भी वर्तमान ग्रन्थ पाठकों के समक्ष श्रीरामकृष्ण देव के अलौकिक जीवन का एक भावशुद्ध विशद चित्र प्रस्तुत करेगा। उनके अभूतपूर्व ईश्वरानुराग, साधना, दर्शन तथा धर्ममत की मूल बातें ग्रन्थकार ने अपनी प्रांजल भाषा में ऐसे सुन्दर ढंग से समाविष्ट की है कि सहजमति बालक भी उसे अनायास ही समझ सकेंगे।" मुख्यत: युवावर्ग के लिए इसकी उपादेयता को ध्यान में रखकर ही हम इसका अनुवाद क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। — सं.)

प्रथम अध्याय

कामारपुकुर और बचपन

बंगाल के हुगली जिले में कामारपुकुर नाम का एक ग्राम है। हावड़ा से 'बंगाल-नागपुर रेल्वे लाइन' के विष्णुपुर या गड़बेता स्टेशन पर उतरकर बैलगाड़ी से अथवा पैदल उस ग्राम में पहुँचा जा सकता है।[१] वह ग्राम अतीव सुन्दर है। इसके चारों ओर मैदान, पश्चिम की ओर एक तालपोखर, उसके भी पश्चिम में कुछ दूर जाने पर 'भूतिर खाल' नाम की एक संकीर्ण नहर और उसके तट पर शवदाह की जगह तथा उसी नहर के पश्चिम की ओर थोड़ी दूर मैदान के बीच एक सुन्दर आम का बगीचा है। अपने बचपन में श्रीरामकृष्ण इसी बगीचे[२] में खेला करते थे। इस ग्राम में अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं। पहले वहाँ अनेक धनी लोग भी थे, पर अब उस ग्राम की हालत उतनी अच्छी नहीं है। उस अंचल के लोगों में देव-द्विज के प्रति बड़ी भक्ति थी।

इसी ग्राम में खुदीराम चट्टोपाध्याय नाम के एक निर्धन ब्राह्मण का निवास था। वे सदा ईश्वर के चिन्तन में मग्न रहा करते थे। निर्धन होने के बावजूद वे कभी किसी से कुछ माँगते नहीं थे, पूर्णरूप से भगवान पर ही निर्भर रहते। और उनके छोटे से परिवार का किसी प्रकार काम चल जाता था। उनकी थोड़ी-सी जमीन थी और एक भानजा थोड़ी-बहुत सहायता किया करता था – इसी से उनका क्रिया-कर्म, पूजा, दान, अतिथि-सेवा आदि सब चलता था।

अतिथि-सेवा में खुदीराम का बड़ा अनुराग था। उनकी कुटिया से थोड़ी दूर, ग्राम के दक्षिणी भाग में पुरी जाने का मार्ग था। साधु-सज्जन सदा ही इस पथ से होकर आना-जाना करते थे और कभी कभी वे लोग ग्राम के भीतर आकर भिक्षा संग्रह करते अथवा लोगों के द्वार पर अतिथि के रूप में जा पहुँचते। खुदीराम के घर के आतिथ्य

---

१. आजकल कलकत्ता से भी कामापुकुर तथा जयरामवाटी ग्रामों के लिए सीधी बसें चलने लगी हैं।
२. अब उस आम्रकानन के पेड़ों को काटकर खेत बना दिया गया है।

ग्रहण करके वे लोग उनकी प्रीतिपूर्ण सेवा-यत्न पर परम सन्तोष का अनुभव करते। उनमें से किसी भी व्यक्ति के द्वारा अपनी किसी असुविधा की बात सूचित करने पर, वे अपना काफी नुकसान उठाकर भी, उसे दूर करने में पीछे नहीं हटते थे।

खुदीराम उज्ज्वल गौरवर्ण तथा सुगठित शरीर के थे। वे बड़े तेजस्वी और गम्भीर दीख पड़ते थे। सत्यवादी, तपस्वी और वाक्‌सिद्ध होने के कारण ग्राम के लोग उनके प्रति देवता के समान भक्ति करते थे। जब वे हालदार तालाब में स्नान करते, तो उस समय दूसरा कोई भी उसके पानी में नहीं उतरता था। उन्हें प्रणाम कर चरण-स्पर्श करते समय लोगों को भय का बोध होता था और उन्हें रास्ते पर जाते देख लोग सम्मानपूर्वक खड़े हो जाते।

एक दिन खुदीराम किसी कार्य के निमित्त एक अन्य ग्राम जा रहे थे। मार्ग में एक वृक्ष के नीचे विश्राम करते समय नींद आ जाने पर स्वप्न में श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें दर्शन देकर बताया कि वे निकट की भूमि में काफी समय से पड़े हुए हैं और देखभाल तथा भोजन के अभाव में बड़ा कष्ट पा रहे हैं। खुदीराम ने जागने के बाद चारों ओर तलाश किया तो उन्हें एक शालग्राम-शिला की प्राप्ति हुई और अत्यन्त आनन्दपूर्वक वे उसे अपने सिर पर रखकर घर ले आये। तब से इस परिवार में उक्त शालग्राम की 'रघुवीर' नाम से गृहदेवता के रूप में पूजा होती आ रही है।

खुदीराम की पत्नी चन्द्रमणि देवी अत्यन्त सरल स्वभाव की थीं। उनकी यह अतीव सरलता कभी-कभार मूर्खता जैसी भी प्रतीत होती थी। उनमें अपने-पराये का बोध नहीं था। दूसरों की सेवा करना उन्हें इतना प्रिय था कि कभी कभी वे अपना भोजन भी अतिथि या भूखे पड़ोसी को देकर स्वयं प्रसन्नतापूर्वक उपवास करती थीं। उनके हृदय में राग, द्वेष या लोभ की गन्ध तक न थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि कोई झूठ भी बोल सकता है – यह बात किसी भी प्रकार उनकी समझ में ही नहीं आती थी या उन्हें इस पर विश्वास ही नहीं होता था।

खुदीराम के रामकुमार और रामेश्वर नाम के दो पुत्र तथा कात्यायनी नाम की एक कन्या थी। इसके बाद १७ फरवरी १८३६ ई. को बुधवार के दिन रामकृष्ण ने जन्म लिया। उनका जन्म रात के अन्तिम प्रहर – ब्राह्ममुहूर्त में हुआ था। जो लोग वेदान्त के मतानुसार ईश्वर-साधना करके सिद्धिलाभ करते हैं, वे संसार की समस्त असार वस्तुओं को त्यागकर सदा सार व सत्य वस्तु को देखते और ग्रहण करते हैं, इसीलिए शास्त्रों में उन्हें परमहंस कहा गया है। रामकृष्ण को उसी प्रकार की अवस्था प्राप्त होने पर उनके गुरु स्वामी तोतापुरीजी उन्हें 'परमहंस' कहकर सम्बोधित करते थे। इस प्रकार उनका नाम रामकृष्ण परमहंस हो गया था। बचपन से ही वे बड़े सुन्दर थे; उनके सरल व्यवहार तथा बुद्धिमत्ता पर मुग्ध होकर सभी ग्रामवासी उनसे बड़ा प्रेम करते थे। उनका कण्ठस्वर बड़ा मधुर और स्मरणशक्ति बड़ी ही तीक्ष्ण थी। जो भजन वे एक बार भी सुन लेते, उसे उसके राग के सहित वे याद कर लेते थे। कथक पण्डितजी के मुख से पुराण की कोई कथा सुनने के बाद वे यथावत भावभंगिमा के साथ उसका पुन: अभिनय कर लेते थे। गाँव में लाहा-लोगों के घर में पूजा-पर्वादि के अवसर पर जो गीतिनाट्य

तथा कथाएँ होती थीं; रामकृष्ण बहुत काल तक उसका बारम्बार अभिनय कर ग्राम के सभी बाल-वृद्ध तथा नर-नारियों का मनोरंजन किया करते थे। उनके आनन्दमय स्वभाव तथा सरल व्यवहार के कारण ग्राम के बालकगण उनसे अत्यन्त प्रेम करते और सदा उनके साथ साथ रहा करते। इसी प्रकार धीरे धीरे वे अपने ग्रामवासी बालकों के अगुआ हो गये। ग्राम के पश्चिम में स्थित जिस आम के उद्यान का उल्लेख हम कर आये हैं, वही उनका प्रधान अड्डा था। वहीं पर वे अपने साथियों के संग विविध प्रकार के नये नये खेलों की सृष्टि करके आनन्द मनाया करते थे। नाटकों में आनेवाले सभी गाने उन्हें कण्ठस्थ थे। वे बीच बीच में अपने बालक दल के साथ उनका अभिनय करते थे। कृष्णलीला में वे स्वयं कृष्ण अथवा राधा तथा रामलीला में राम की भूमिका लेते थे। उनका अभिनय इतना सटीक हुआ करता था कि जो भी देखता, वही मुग्ध हो जाता। अभिनय के दौरान कभी कभी वे इतने भाव-विभोर हो जाते कि उन्हें बाह्य-जगत का ज्ञान न रह जाता। इस पर उनके संगी बालकगण बड़े भयभीत हो जाते और निकट ही स्थित 'भूतिर खाल' से पानी लाकर उनके मुख व आँखों पर छिड़कते तथा पेड़ से छोटी छोटी डालियाँ तोड़कर उन्हें हवा करते।

लाहाओं के फूस-निर्मित दालान में गाँव की पाठशाला चलती थी। वहाँ पर भी अपने साथी छात्रों को साथ लेकर उनका गाना और अभिनय चलता था। शिक्षकजी के कानों में सदा यह बात आती रहती कि गदाधर[३] बड़ा अच्छा गा और अभिनय कर लेता है, इसीलिए एक दिन उन्होंने उनसे थोड़ा-सा अभिनय करके दिखाने का अनुरोध किया। रामकृष्ण ने तत्काल ही अपने मित्रों को एक छोटे से दल में विभाजित कर गीतिनाट्य प्रारम्भ कर दिया। शिक्षक महोदय ने बालक की यह अद्‌भुत क्षमता देखकर दाँतों तले उँगली दबा ली और सोचने लगे कि यह बालक तो साधारण बालक नहीं है!

ग्राम के नर-नारियों को गदाधर के मुख से पुराणों की कथाएँ तथा भजन सुनना बहुत पसन्द था। वे भी इन सबकी आवृत्ति कर सबको सुनाते रहते। ग्राम में ऐसे अनेक लोग थे, जो गदाधर को अधिक काल तक देखे बिना रह नहीं पाते थे, एक पहर यदि न देख पाते तो उन्हें ढूँढ़ने निकल जाते। गदाधर में ऊँच-नीच का बोध नहीं था। निम्न जाति के लोगों के घर जाकर भी वे उन्हें प्रह्लाद-चरित, ध्रुव-चरित या रामायण-पाठ सुनाया करते। इस प्रकार गदाधर ने कामापुकुर ग्राम को नित्य-उत्सवमय बना दिया था। वे उत्सव-आनन्द की साकार मूर्ति थे, कोई किसी कारण दुखी होकर यदि उनके पास आता तो शीघ्र ही उसका वह विषाद-भाव दूर हो जाता।

रामकृष्ण जब सात वर्ष के थे, तभी उनके पिता खुदीराम ने देहत्याग किया। तब परिवार के भरण-पोषण का भार रामकुमार और रामेश्वर के कन्धों पर आ पड़ा। खुदीराम की गृहस्थी मानो शिवजी की गृहस्थी थी – न तो उन्होंने कुछ संचय किया था और न ही उनकी कोई निर्दिष्ट आय थी। फिर वे दान-धर्म में भी कोई कमी नहीं रखते थे। पुत्रों का स्वभाव भी पिता के ही समान था – सत्कार्य, देव-पूजा, अतिथि-सेवा

३. गदाधर रामकृष्ण का ही एक अन्य नाम था।

अवश्य होनी चाहिए, परन्तु अर्थोपार्जन कैसे करना चाहिए इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। खुदीराम के स्वर्गवास के पश्चात विविध कारणों से उनकी आय में कमी आ गयी और खर्च बढ़ गया। अभाव के चलते रामकुमार ने थोड़ा ऋण भी ले लिया। फिर ऋण चुकाने का कोई उपाय न देख सम्बन्धियों ने धन कमाने हेतु उन्हें कलकत्ता जाने की सलाह दी। तदनुसार कलकत्ता जाकर वहाँ के झामापुकुर मुहल्ले में उन्होंने एक पाठशाला की स्थापना की। रामकृष्ण की आयु तब चौदह वर्ष की थी। इसके पूर्व नौ वर्ष की आयु में उनका उपनयन संस्कार हो चुका था और वे घर में रघुवीर की सेवा-पूजा किया करते थे।

घर में रामकृष्ण की पढ़ाई-लिखाई नहीं हो पा रही है, यह देख सत्रह वर्ष की आयु में रामकुमार उन्हें अपने साथ कलकत्ता ले गये। उन्होंने सोचा कि यहाँ रहकर उसका पढ़ना-लिखना भी होगा और साथ ही पूजा तथा भोजन पकाने आदि में भी किंचित सहायता मिलेगी। वस्तुत: रामकृष्ण के आ जाने से उन्हें काफी सुविधा हो गयी। परन्तु पढ़ने-लिखने में उनका कोई विशेष उत्साह नहीं दीख पड़ा। बचपन से ही उनका धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य विषय में मन नहीं लगता था। गाने, खेलने, आमोद-प्रमोद आदि सभी विषयों में उनका वही भाव प्रकट होता था। उनका देह-मन मानो भक्ति के द्वारा ही गठित हुआ था। इसीलिए वे भलीभाँति पढ़ना-लिखना न सीख सके।

द्वितीय अध्याय

रानी राममणि का काली मन्दिर

कलकत्ता के जानबाजार मुहल्ले में राजचन्द्र दास नामक एक जमींदार रहते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात उनकी पत्नी श्रीमती रासमणि ने इतनी दक्षता के साथ उनकी विशाल जमींदार की व्यवस्था की कि लोगों ने उनकी तेजस्विता व दया आदि गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें 'रानी' का नाम दे दिया। वस्तुत: उनका स्वभाव तथा चाल-चलन ठीक रानी के ही समान था। उनके शौर्य, वीरता, दान तथा अन्य कीर्तियों की कथा बंगाल में सर्वत्र ज्ञात है।

रासमणि ने कलकत्ते के तीन मील उत्तर में, गंगा तट पर स्थित दक्षिणेश्वर ग्राम में एक जमीन खरीदी और काफी धन खर्च करके एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया। उनकी इच्छा थी कि वहाँ राधागोविन्द तथा श्रीकालीमाता के विग्रहों की स्थापना करके शास्त्रीय पद्धति से पूजा की व्यवस्था हो तथा उनके प्रसाद से साधु, ब्राह्मण तथा दरिद्रों की सेवा की जाय। इस विषय में शास्त्रसम्मत व्यवस्था करने के लिए रानी ने ब्राह्मण पण्डितों को आमन्त्रित किया। पण्डितगण एकत्र हुए और रानी का उद्देश्य सुनते ही एक स्वर में बोले कि चूँकि रानी कैवर्त वंश की हैं, अत: कोई भी सद्-ब्राह्मण उनके द्वारा प्रतिष्ठित काली की पूजा नहीं कर सकेंगे और शूद्र जाति द्वारा प्रतिष्ठित देव-विग्रह को अन्नभोग कदापि नहीं दिया जा सकता।

यह व्यवस्था सुनकर रानी के हृदय को बड़ी चोट पहुँची । उनके परमप्रिय श्यामा और श्याम की सेवा में बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया था । पण्डितगण की इस व्यवस्था से रानी के मन को सन्तोष नहीं हुआ । उनका विश्वास था कि शास्त्रों में उनके उद्देश्य को पूर्ण करने का कोई न कोई उपाय अवश्य मिल जाएगा, अत: उन्होंने विभिन्न स्थानों के पण्डितों से व्यवस्था माँगते हुए सन्देश भेजा, परन्तु किसी ने भी रासमणि की इच्छानुसार देवसेवा का समर्थन नहीं किया ।

क्रमश: यह संवाद रामकुमार के कानों तक भी पहुँचा । रामकुमार शास्त्रों का मर्म समझते थे । उन्होंने सोचा कि पण्डित लोग अवश्य ही भ्रमित हो गये हैं, अन्यथा भला क्या वे इस प्रकार किसी को देवसेवा से वंचित कर सकते हैं? इसका कोई-न-कोई उपाय जरूर होगा । स्मृतिशास्त्र पर विचार करने के बाद उन्होंने व्यवस्था लिख भेजी कि रानी यदि मन्दिर को अपने गुरु के नाम दान कर दे, तो ब्राह्मण गुरु के नाम से प्रतिष्ठित देवालय में देवता की पूजा तथा अन्नभोग दिया जा सकता है । यह व्यवस्था पाकर रानी को असीम आनन्द हुआ और उन्होंने रामकुमार को आशातीत पुरस्कार दिया ।

रामकुमार की व्यवस्था के अनुसार श्री राधागोविन्द तथा श्रीकालीमाता की स्थापना के लिए एक दिन निर्धारित किया गया, परन्तु प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न कराने हेतु कोई उपयुक्त आदमी नहीं मिला । अत: रामकुमार को ही उसे सम्पन्न कराना पड़ा । ३१ मई १८५५ ई. को स्नानयात्रा के दिन होनेवाले इस महोत्सव को देखने रामकृष्ण भी काली मन्दिर गये; परन्तु उन्होंने वहाँ पर अन्नग्रहण नहीं किया, बाजार से मुरमुरा आदि लेकर उदरपूर्ति की ।

फिर उपयुक्त पुजारी के अभाव में रामकुमार को ही माँ काली का पुजारी भी बनना पड़ा । मन्दिर से सम्बन्धित समस्त चीजों की व्यवस्था का भार रानी के दामाद श्री मथुरामोहन विश्वास ने सम्भाला । रामकृष्ण कुछ दिन कलकत्ता में ही रहकर सोचने लगे कि अब क्या किया जाए । क्योंकि कैवर्त की काली पूजा तथा अन्न ग्रहण करना उन्हें धर्मसंगत नहीं लगता था । अन्त में रामकुमार ने उन्हें अपने पास बुलाकर शास्त्र के अन्य विधान तथा विविध उपायों से समझा दिया कि माँ काली के पुजारी का पद स्वीकार करके तथा उनका प्रसाद पाकर उन्होंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया है । तब से रामकृष्ण अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ दक्षिणेश्वर में निवास करने लगे । रामकृष्ण की व्यक्तित्व तथा स्वभाव देखकर मथुरबाबू उनकी ओर आकृष्ट होने लगे । उनका अपूर्व सरलतापूर्ण मुख जो कोई देखता, वही मुग्ध हो जाता । उनके जीवन के अन्तिम काल में डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार आदि उनकी इस अद्‌भुत सरलता को देखकर ही मुग्ध हुए थे और उन्हें 'प्रकृति के शिशु' का नाम दिया था । एक दिन मथुरबाबू ने देखा कि रामकृष्ण ने अपनी पूजा के लिए शिवजी की एक मूर्ति गढ़ी है । वह मूर्ति इतनी सुन्दर बनी थी कि आम तौर पर ऐसी सुन्दर मूर्ति देखने में नहीं आती । मथुरबाबू इस मूर्ति के निर्माण में बालक की असाधारण प्रतिभा का परिचय पाकर अत्यन्त मुग्ध हुए और उन्होंने रानी को वह मूर्ति दिखाते हुए उस बालक की प्रतिभा, तेजोमय कान्ति, धर्मभाव, सरलता आदि के बारे में बताया । तब से मथुराबाबू रामकृष्ण को देवसेवा के

किसी कार्य में नियुक्त करने के प्रयास में लग गये, परन्तु रामकृष्ण कैसे भी सहमत नहीं हुए। वे मथुरबाबू के सामने ही न जाते, दूर ही दूर रहते। आखिरकार अपने परिवार की निर्धनता, बड़े भाई के अनुरोध तथा मथुरबाबू के आग्रह आदि बातों पर सोच-विचार करने के बाद उन्होंने माँ-काली को सजाने का कार्य स्वीकार कर लिया। उनके भानजे हृदय भी कार्य की तलाश में वहाँ आये हुए थे। वे रामकृष्ण के सहकारी नियुक्त हुए।

राधागोविन्द के पुजारी एक दिन विग्रह को शयन कराने ले जा रहे थे। उनकी असावधानी के फलस्वरूप मूर्ति उनके हाथ से गिर गयी और उसका एक पाँव टूट गया। इस विषय को लेकर काली मन्दिर में बड़ा वाद-विवाद आरम्भ हुआ। किसी ने कहा, "खण्डित देवता की पूजा निषिद्ध है, अतः इन्हें त्यागकर नई मूर्ति की स्थापना करनी होगी।" कोई अन्य कहने लगा, "देवता को भी क्या त्यागा जा सकता है?" अपना कर्तव्य निश्चित करने के लिए शास्त्र का विधान जानने हेतु रानी ने कुछ पण्डितों को बुलवाया। पण्डितों ने भग्नदेवता को त्याग देने का विधान दिया। अन्त में जब रामकृष्ण का मत पूछा गया, वे भावतन्मय होकर बोले, "यदि हमारे किसी सगे-सम्बन्धी का पाँव टूट जाय, तो क्या हम उसका परित्याग कर देते हैं? या फिर हम ऐसी चिकित्सा की व्यवस्था करते हैं, जिससे कि उसका पाँव ठीक हो जाय? इस विषय में भी वैसा ही किया जाय। देवता का पाँव टूट गया है – इस कारण हम उन्हें त्याग क्यों देंगे?" रानी और मथुरबाबू इस व्यवस्था को सुनकर परम आनन्दित हुए। और रामकृष्ण ने देवता के पाँव को इतनी निपुणता के साथ जोड़ दिया कि उसे देखकर उसके टूटने की बात ध्यान में ही नहीं आती थी। असावधानी के अपराध में राधागोविन्द के पुजारी अपने पद से मुक्त कर दिये गये और उनके स्थान पर रामकृष्ण की नियुक्ति हुई। कुछ काल बाद रामकुमार का देहावसान हो जाने पर, रामकृष्ण को माँ-काली की पूजा का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। □(क्रमशः)□

जातिप्रथा के गुण-दोष

जाति-विभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिए यही एक स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग अलग वर्गों में विभक्त होंगे, यह अनिवार्य है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार का विशेषाधिकार भी रहेगा। इन विशेषाधिकारों को जड़ से उखाड़कर फेंकना होगा। यदि मछुआ को तुम वेदान्त सिखाओगे, तो वह कहेगा – हम और तुम दोनों बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुआ; परन्तु इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं कि किसी को विशेष अधिकार न प्राप्त हो और प्रत्येक मनुष्य की उन्नति के लिए समान सुभीते हों। सभी लोगों को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए स्वयं प्रयास करेगा।

— *स्वामी विवेकानन्द*

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (९)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

१०. अमरनाथ-दर्शन

स्थान – काश्मीर
समय – २९ जुलाई से ८ अगस्त, १८९८

२९ जुलाई। इसके बाद हम स्वामीजी को बहुत कम देख सके। वे इस तीर्थयात्रा के बारे में बड़े उत्साहित थे, बहुधा एकाहार करते थे और साधुओं के अतिरिक्त अन्य किसी का संग पसन्द नहीं करते थे। कभी कभी वे हाथ में माला लिये शिविर-क्षेत्र में आते। आज रात हमारी टोली के दो सदस्य बावन नामक स्थान के चारों ओर घूमकर देखने गये। वह स्थान एक ग्रामीण मेले के समान था, जिसमें पवित्र सोतों को केन्द्र बनाकर सब कुछ धार्मिक प्रवृत्तियों से मण्डित कर दिया गया था। बाद में हम धीरा-माता के साथ तम्बू के दरवाजे तक गयीं और वहाँ जो हिन्दी-भाषी साधुओं की भीड़ स्वामीजी से प्रश्न-पर-प्रश्न करती जा रही थी, उनके बीच हो रहे वार्तालाप को हमने सुना।

गुरुवार को हम लोग पहलगाम पहुँचे और घाटी की निचली छोर पर अपना तम्बू लगाया। हमने पाया कि हमारे वहाँ प्रवेश के प्रश्न पर स्वामीजी को बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। उन्हें नागा साधुओं का समर्थन प्राप्त था, जिनमें से एक ने कहा, "स्वामीजी, यह सत्य है कि आपमें शक्ति है, परन्तु उसे व्यक्त करना उचित नहीं।" यह सुनकर वे चुप रह गये। तथापि अपराह्न के समय वे अपनी कन्या को आशीर्वाद दिलाने के निमित्त, उसे साथ लेकर भिक्षा का वितरण कराते शिविर में घूमे। अब चाहे इस कारण कि वे धनवान समझे गये हों, या फिर उनकी शक्ति को पहचान लिया गया हो, अगले दिन हमारे तम्बुओं को शिविर के शीर्षस्थान पर स्थित एक सुन्दर पहाड़ी पर लगा दिया गया। सामने क्षिप्रवाहिनी लिद्दर नदी बह रही थी, उस पार देवदार वृक्षों से ढँका हुआ पर्वत और ऊँचाई पर स्थित एक छिद्र से एक हिमनद स्पष्ट रूप से दिखायी दे रहा था। एकादशी का व्रत पालन करने के लिए हम लोगों ने एक पूरा दिन मेषपालकों के उस गाँव में बिताया और अगले दिन बड़े सुबह तीर्थयात्रियों ने वहाँ से प्रस्थान किया।

३० जुलाई। प्रात:काल छह बजे हम लोगों ने जलपान किया और चल पड़े। हम लोग अनुमान नहीं कर सके कि शिविर का स्थानान्तरित होना कब आरम्भ हुआ, क्योंकि जब हम बड़े सबेरे जलपान कर रहे थे, तब भी बहुत कम यात्री या तम्बू बचे हुए थे। कल जिस स्थान पर एक हजार लोग अपने कैनवास के घरों में ठहरे थे, उसके चिह्न के रूप में वहाँ केवल बुझे हुए अलावों की राख ही शेष थी।

हमारे अगले पड़ाव चन्दनवाड़ी का रास्ता क्या ही सुन्दर था! वहाँ हम लोगों ने एक दर्रे के छोर पर अपना तम्बू लगाया। पूरे अपराह्न भर वर्षा होती रही और स्वामीजी केवल पाँच मिनट के लिए बातें करने मेरे पास आये। परन्तु सेवकों तथा अन्य तीर्थयात्रियों की हार्दिक उदारता के मुझे असंख्य उदाहरण मिले। वर्षा की दो झड़ियों के बीच अन्तराल के दौरान मैं वनस्पतियों की खोज में गयी और मुझे मेसोटिस (Myesotis) की सात-आठ किस्में देखने को मिली, जिनमें से दो-तीन मेरे लिए नयी थीं। इसके बाद मैं अपने फर वृक्ष की छाया में चली गयी, जिससे टप-टपकर जल टपक रहा था।

यात्रा का दूसरा चरण अन्य सभी से काफी कठिन था। लगता था कि यह कभी समाप्त ही न होगा। चन्दनवाड़ी के निकट स्वामीजी ने इस पहले हिमनद को मेरे पैदल ही पार करने पर जोर दिया और रुचि की सभी बातों का विवरण देते रहे। हमारा अगला अनुभव था – कई हजार फीट की भयंकर चढ़ाई। इसके बाद एक सँकरी पगडण्डी पर पहाड़ियों के इर्द-गिर्द घूमते हुए चलते रहना और अन्त में एक और खड़ी चढ़ाई। पहली पहाड़ी के ऊपरी भाग की सतह पर एडेलविस (Edelweiss) नामक छोटी छोटी घासों का मानो गलीचा बिछा था। उसके बाद से रास्ता शेषनाग के गतिहीन जल से पाँच सौ फीट की ऊँचाई से होकर चला गया है। अन्त में हम लोगों ने हिमशिखरों के बीच १८,००० फीट की ऊँचाई पर स्थित एक ठण्डे नम स्थान में अपना तम्बू लगाया। फर के वृक्ष बहुत नीचे थे और पूरे अपराह्न तथा संध्या तक कुलियों को जूनीपर की लकड़ियाँ इकट्ठी करनी पड़ी। तहसीलदार, स्वामीजी तथा मेरे तम्बू एक-दूसरे के पास लगे थे और संध्या के समय सामने एक बड़ा अलाव जलाया गया। परन्तु वह अच्छी तरह नहीं जल रहा था और हिमनद बहुत नीचे रह गया था। शिविर लगने के बाद मैंने फिर स्वामीजी को नहीं देखा।

पाँच सोतों का मिलनस्थल – 'पंचतरणी' का मार्ग उतना लम्बा न था। तथापि यह शेषनाग से नीचा था और वहाँ की ठण्ड शुष्क तथा आनन्ददायी थी। शिविर के सम्मुख कंकड़ियों से भरी एक सूखी नदी का पाट था, जिससे होकर बहनेवाले पाँचों सोतों में, भीगे वस्त्रों में ही एक-एककर सभी में जाकर स्नान करना प्रत्येक यात्री का कर्तव्य था। स्वामीजी ने अन्य लोगों की नजर बचाकर यथाविधि प्रत्येक सोते में स्नान किया।

वहाँ खिले हुए पुष्प क्या ही सुन्दर थे! पिछली रात या फिर शायद आज की ही रात मेरे तम्बू में बिस्तर के नीचे नीले तथा सफेद रंग के बड़े बड़े एनेमोन (Anemone) के फूल उग आये थे। और यहीं पर अपराह्न के समय में हिमनदी को निकट से देखने के लिए घूमने निकलकर मैंने जेण्टियन, सेडम, सैक्सिफ्रेज तथा छोटे छोटे लोमयुक्त मखमल के थाक जैसे श्वेतपत्रों वाले एक नये प्रकार के 'फरगेट-मी-नाट' के फूल देखे। यहाँ तक कि जूनीपर भी वहाँ पर विरल था।

इन बुलन्द स्थानों पर हम प्राय: ही अपने आपको चारों ओर से उन हिमशिखरों से घिरा हुआ पाते, जिन्होंने हिन्दू मानस को भस्माच्छन्न शिव का भाव दिया है।

२ अगस्त। आज बुधवार को अमरनाथ के महोत्सव का दिन था। यात्रियों की प्रथम टोली रात के दो बजे ही शिविर से निकल पड़ी होगी! हम लोग भी पूर्णिमा की चाँदनी में चल पड़े। सँकरी घाटी में चलते चलते सूर्योदय हो गया। यात्रा का यह भाग सुरक्षित नहीं था। लेकिन जब हम अपनी डण्डियाँ छोड़कर चढ़ाई करने लगे, तभी वास्तविक खतरा

आरम्भ हुआ। एक पगडण्डी लगभग खड़े पहाड़ पर चढ़ती हुई दूसरी ओर के तृणाच्छादित भूमि पर एक सीढ़ी के रूप में उतरी थी। जहाँ-तहाँ सर्वत्र ही कमनीय कोलम्बाइन, माइकेलमास डेजी तथा जंगली गुलाब अपनी प्राप्ति के प्रयास में हमें अपने अंगों को दाँव पर लगा देने का निमंत्रण दे रहे थे। इसके बाद किसी प्रकार दूर स्थित उतराई के नीचे तक पहुँचकर हमें गुहा तक हिमनद के किनारे मीलों चलते रहना पड़ा। लक्ष्य तक पहुँचने के लगभग एक मील पूर्व बर्फ समाप्त हो गयी और वहाँ बहते जल में यात्रियों को स्नान करना था। करीब करीब लक्ष्य तक पहुँच जाने पर भी चट्टानों पर एक खड़ी चढ़ाई बाकी थी।

स्वामीजी इस बीच थोड़े थककर पीछे रह गये थे, परन्तु मैं उनकी अस्वस्थता को भूलकर कंकड़ के ढूहों के नीचे बैठी बैठी उनकी प्रतीक्षा करने लगी। आखिरकार वे वहाँ आ पहुँचे। मुझे आगे बढ़ने को कहकर वे स्नान करने जा रहे थे।। आधे घण्टे बाद उन्होंने गुहा में प्रवेश किया। एक मुस्कान के साथ पहले उन्होंने अर्ध-वृत्ताकार पंक्ति के एक छोर से और उसके बाद दूसरे छोर से घुटनों के बल झुककर प्रणाम किया। वह स्थान इतना बड़ा था कि उसमें पूरा एक गिरजाघर ही समा जाता और गहरी छाया के बीच स्थित विशाल हिमलिंग मानो अपने सिंहासन पर स्थित था। इसी प्रकार कई मिनट बीत गये और तब वे गुहा से बाहर निकलने को मुड़े।

उनके लिए अब तो मानो स्वर्ग का द्वार ही उन्मोचित हो गया हो। उन्होंने शिवजी के चरणों का स्पर्श किया था। उन्होंने बाद में बताया कि उस समय उन्हें स्वयं को बड़ी दृढ़ता से सँभालना पड़ा था कि कहीं वे मूर्छित न हो जायँ। परन्तु उनकी शारीरिक थकान इतनी अधिक हुई थी कि बाद में एक डॉक्टर ने कहा था कि उस समय उनके हृदयगति बन्द हो जाने की सम्भावना थी, परन्तु उसकी जगह उसका आकार सदा के लिए वर्धित हो गया था। बड़े विचित्र ढंग से श्रीरामकृष्ण की यह वाणी पूर्ण होते होते रह गयी थी, "जब वह जान लेगा कि वह कौन तथा क्या है, तो वह शरीर को त्याग देगा।"

आधे घण्टे बाद सोते के पास एक चट्टान पर बैठकर उन सहृदय नागा संन्यासी तथा मेरे साथ बैठकर जलपान करते हुए उन्होंने कहा, "मुझे बड़ा ही आनन्द मिला! लगा कि हिमलिंग साक्षात् शिव ही हैं। और वहाँ कोई लोभी पुरोहित, किसी भी तरह का व्यवसाय या कुछ भी गलत न था। वहाँ केवल एक निरविच्छिन्न पूजा का ही भाव था, अन्य किसी भी तीर्थस्थान में मुझे इतना आनन्द नहीं आया!" बाद में वे प्रायः ही अपनी उस चित्तविह्वलकारी अनुभूति के बारे में बताते हुए कहते कि कैसे उन्हें लगा मानो वह उन्हें अपने घूर्णावर्त में खींच लेगा। वे उस तुषारलिंग के साथ जुड़े कवित्व पर चर्चा करते। उन्होंने ही हमें बताया कि किस प्रकार मेष-पालकों के एक दल ने इस स्थान का पहली बार आविष्कार किया था। ग्रीष्म काल के दौरान एक दिन वे अपनी खोयी हुई भेड़ों की तलाश में काफी दूर भटकते हुए इस गुफा में आ पहुँचे और स्वयं को चिर-तुषाररूपी साक्षात् महादेव के सम्मुखीन पाया। वे सर्वदा यह भी कहा करते थे कि अमरनाथ ने वहाँ उन्हें इच्छामृत्यु अर्थात अपनी स्वीकृति के बिना न मरने का वर दिया था। और उन्होंने मुझसे कहा, "तुम अभी नहीं समझोगी। परन्तु तुमने तीर्थयात्रा की है और यह क्रमशः फलित होगी। कारण होने पर कार्य अवश्यम्भावी है। बाद में तुम और अच्छी तरह समझोगी। इसका प्रभाव अवश्य होगा।"

कितना सुन्दर था वह मार्ग जिससे हम अगले दिन पहलगाम लौटे ! उस रात शिविर में आते ही हमने अपने तम्बू उखाड़े और काफी दूर चलकर एक बर्फीले दर्रे में रात के लिए छावनी लगायी । यहीं पर हमने कुछ आने पैसे देकर एक कुली के हाथों पत्र भेजा, परन्तु अगले दिन अपराह्न में जब हम स्वयं पहुँचे तो लगा कि यह पूरी तौर से अनावश्यक था, क्योंकि पूरे प्रात:काल के दौरान यात्रीगण तम्बुओं में जा-जाकर अन्य लोगों को बड़े सौहार्दपूर्वक हमारा तथा हमारे आसन्न वापसी का समाचार दे रहे थे । अगले दिन भोर में सूर्योदय के काफी पूर्व ही हम उठकर चल पड़े । जिस समय हमारे सामने सूर्योदय और पीछे चन्द्रास्त हो रहा था, हम मृत्यु सरोवर के ऊपर से होकर गुजरे । एक वर्ष लगभग चालीस तीर्थयात्री उसी मार्ग से होकर चले जा रहे थे कि उनके स्तोत्रपाठ की आवाज से स्खलित होकर एक हिमशिला खिसकी और उन्हें वहीं दफन कर दिया था । इसके बाद हम एक खड़े पहाड़ से उतरती एक सँकरी पगडण्डी से चले, जिसके फलस्वरूप हमारा वापसी का रास्ता काफी घट गया था । और यह प्राय: रेंगने के ही समान था और हम सबको पैदल ही चलना पड़ा । तलहटी में उतरने पर हमने पाया कि ग्रामवासियों ने जलपान जैसा कुछ तैयार कर रखा था । आग जल रही थी, चपातियाँ सेंकी जा रही थीं और चाय तैयार थी । इस स्थान के बाद से जहाँ जहाँ रास्ते अलग हुए थे, वहाँ वहाँ यात्रियों की टोलियाँ मुख्य दल से अलग होती जा रही थीं और हमारे बीच जो भाई-चारे का सम्बन्ध गढ़ उठा था, उसका क्रमश: ह्रास होता जा रहा था ।

उस दिन सन्ध्या को पहलगाम की उस छोटी पहाड़ी पर पाइन के लट्ठों से एक बड़ी धूनी जलाकर दरियाँ बिछा दी गयी थीं, जिस पर बैठकर हम सबने बातें कीं । हमारे वे मित्र नागा संन्यासी भी उसमें सम्मिलित हुए और काफी हास-परिहास होता रहा । बाकी सभी लोगों के चले जाने के बाद भी हमारी छोटी-सी टोली बैठी रही – ऊपर विशाल चन्द्रदेव थे, चारों ओर हिममण्डित शिखर थे, क्षिप्रगामी नदी थी, पहाड़ी पाइन वृक्ष थे और स्वामीजी महादेव, गुहा तथा उस दर्शन की विराटता पर बातें करते रहे ।

८ अगस्त । अगले दिन हमने इस्लामाबाद के लिए प्रस्थान किया और सोमवार को सुबह नाव में बैठकर जलपान करते हुए हम सुरक्षित रूप से श्रीनगर पहुँच गये। **(क्रमश:)**

शक्ति की खान : उपनिषद्

उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है । यह विषय विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है । समस्त जीवन में मैंने यही महाशिक्षा प्राप्त की है । उपनिषद् कहते हैं – हे मनुष्य, तेजस्वी बनो, बलवान बनो, उठकर खड़े हो जाओ । जगत के साहित्य में केवल उपनिषद् में ही 'अभी:' (निर्भय) शब्द बारम्बार उपयोग में आया है । संसार के किसी भी दूसरे शास्त्र में ईश्वर अथवा मानव के प्रति 'अभी:' (भयशून्य) – यह विशेषण प्रयुक्त नहीं हुआ है । 'अभी:' – निर्भय बनो । *— स्वामी विवेकानन्द*

स्वामी निर्वेदानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो १९४५ ई. में पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशन के बाद से अब तक शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है। 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

११. नारियों की शिक्षा (उत्तरार्ध)

उपनिषदों में सबसे प्राचीन – ईशावास्य का पहला ही श्लोक यह घोषणा करता है, "इस जगत में जो कुछ भी परिवर्तनशील है, उसे ईश्वर से व्याप्त समझना चाहिए; अतः त्याग के भाव से इन सबका उपभोग करो और दूसरों की चीजों का लोभ मत करो।" इस श्लोक में सामाजिक सन्तुलन का रहस्य व्यक्त हुआ है। प्रकृति की सभी वस्तुएँ ईश्वर द्वारा व्याप्त होने के कारण, इनमें उद्दण्डता, घृणा, ईर्ष्या, लोभ तथा शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है। इस मूलभूत एकत्व के प्रति अज्ञान ही इन सब की उत्पत्ति करता है और भेद तथा दुःख का सृजन करता है। हमें इस विषय में सावधान रहना होगा।

पुरुष को नारियों के भीतर दिव्यता की अभिव्यक्ति देखते हुए उनके प्रति सम्मान का भाव रखना होगा। उसे ऐसा कुछ भी करना उचित नहीं होगा, जो उनके स्वाभाविक विकास में बाधक सिद्ध हों। उसे नारियों को किसी भी दृष्टि से न्यून तथा दया का पात्र नहीं समझना चाहिए। उनमें भी अपनी निजी शक्ति है, अपनी स्वयं की कार्यक्षमता है और प्रकृति की योजना में उनका अपना स्थान है। और उन्हें भी अपनी ओर से सावधान रहना होगा कि वे अपने सहज विकास-पथ के बाहर की चीजों में हाथ न डालें; क्योंकि इससे सन्तुलन बिगड़ेगा और समाज के सामंजस्य में बाधा आयेगी।

इस समस्या के प्रति हमारे पूर्वजों का यही दृष्टिकोण था। हमारे प्राचीन वैदिक समाज में पत्नी को गृहस्थ की सहधर्मिणी कहते थे और धार्मिक जीवन में उसकी समान भागीदारी थी। अब भी उसे गृहस्वामिनी का सम्मानित दर्जा प्राप्त है। मातृत्व उसका आदर्श है। सन्तानों को जन्म देना, उनका पालन-पोषण करना, सबको स्नेह तथा सेवा प्रदान करना, सबकी सुख-सुविधा देखना, घर-गृहस्थी के सारे कार्यों की देखभाल करना, अपने परिवार तथा पड़ोस के लड़ाई-झगड़ों में मध्यस्थता करके शान्ति एवं सद्भाव बनाए रखना – उसके पवित्र कार्यों में हैं। और इस कारण समाज में माँ को सम्मानित स्थान मिला हुआ है। नारी एक भोगप्रवण पति के लिए खिलौना मात्र नहीं है। वह इससे कहीं अधिक बहुत-कुछ है। उसमें असीम सहनशीलता तथा क्षमा से युक्त मातृस्नेह के माध्यम से दिव्य प्रेम अभिव्यक्त होता है। उसका धैर्य, उसका आत्मत्याग, उसका अपनी सन्तानों के कल्याण हेतु आन्तरिक उत्कण्ठा अतुलनीय है। वस्तुतः उसी के पास मानवीय करुणा का सार है। प्रत्येक नारी में इन गुणों का विकास करने और माँ के रूप में धरती की एक सजीव देवदूत बनने की सम्भावना निहित है।

युगों युगों से भारतीय नारियों के सामने मातृत्व का यह आदर्श उपस्थित रहा है। सदा से ही उनका आदर्श न केवल पुरुषों से समानता का, अपितु विशेष सम्मान तथा गौरव का रहा है। पुरुषों को अपनी पत्नी के अतिरिक्त बाकी सभी नारियों को जगदम्बा के रूप में देखने का आदेश है। महिलाओं को अपनी इस अवस्था के प्रति सचेत बनाकर इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था कि वे अपने यौवन तथा शारीरिक सौन्दर्य को अपने अस्तित्व का एक नगण्य हिस्सा मानें। अपने आचरण के द्वारा अपने पति के अतिरिक्त बाकी सभी के प्रति मातृत्व-भाव को विकसित तथा अभिव्यक्त करना – उनके विकास का एक विशेष क्षेत्र था। इसीलिए महिलाओं के यौवन तथा शारीरिक आकर्षण की तुलना में, उपरोक्त विकास को सम्भव बनानेवाले आयु तथा अनुभव को हमारे समाज में कहीं अधिक सम्मानित किया जाता है। इसके बिल्कुल विपरीत पाश्चात्य महिलाएँ यौवन तथा शारीरिक सौन्दर्य को ही अपने पास की किसी भी वस्तु से अधिक महत्व देती हैं। परन्तु भारतीय नारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान सुनिश्चित करने के लिए आत्मत्याग तथा सेवाभाव के द्वारा अपने चरित्र की सुन्दरता तथा उदात्तता में वृद्धि करें।

आज भी सीता और सावित्री, गार्गी और मैत्रेयी, खनाबाई और लीलावती, संघमित्रा और मीराबाई ऐसे ही जादूभरे नाम हैं। चूँकि प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में असामान्य उपलब्धि करनेवाली आदर्श महिलाओं को विरासत के रूप में रख छोड़ा है, आज भी भारतीय जनता उन्हें अपार श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। हमारे चिरकालिक सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हुए आज भी वे हमारी राष्ट्रीय चेतना पर भारतीय नारीत्व के आदर्श प्रतिमानों के रूप में सजीव हैं। निःसन्देह वे उस दिशा की ओर इंगित करती हैं, जिधर आज की भारतीय नारियों को अपने जातीय वैशिष्ट्य को बनाये रखने के लिए अग्रसर होना है।

निश्चय ही हमारे राष्ट्रीय मानस से नारी की दिव्यता का भाव अभी तक लुप्त नहीं हो सका है, परन्तु दुर्भाग्यवश यह इस समय उतना प्रभावी नहीं रह गया है, जितना कि अतीत काल में था। भारतीय नारीत्व का उच्च आदर्श हमारे दिनों में कुछ कुछ धूमिल पड़ गया है। आज की भारतीय नारियाँ उस वेदी पर खड़ी नहीं रह सकी हैं, जिस पर उनका युगों से अधिकार रहा है। इस दुरवस्था के लिए एक साथ ही कई परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं।

उदाहरणार्थ, शताब्दियों तक बर्बर लोगों के हाथ से सुरक्षा की आवश्यकता ने उन्हें दुर्बल, असहाय तथा निर्भरशील बना दिया है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है, "उन्हें सर्वदा ही असहायता, दूसरों पर पूर्ण निर्भरता में ही प्रशिक्षित किया गया है, और इसीलिए जरा-सा भी अनिष्ट या संकट उपस्थित होने पर वे रोने-धोने में ही सक्षम हैं।" और क्यों वे जीवन की ऐसी दुराशापूर्ण स्थिति में पहुँच गयी हैं? निश्चय ही इस कारण नहीं कि पुरुषों के साथ उनकी समानता का भाव हमारी राष्ट्रीय चेतना में नहीं है; इसलिए नहीं कि वे पुरुषों के अत्याचार के फलस्वरूप उन्हें सदा-सर्वदा एक न्यूनतर स्थान दिया गया है। ऐसा निष्कर्ष न तो हमारे आध्यात्मिक भावों तथा आदर्शों के साथ और न ही प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत की आदर्श नारियों के असाधारण उदाहरणों के साथ ही मेल खाता है। स्पष्ट है कि जल्दबाजी में किसी ऐसे निष्कर्ष पहुँचना अनुचित होगा। हमारी नारियों की वर्तमान अवस्था का कारण अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। स्वामी विवेकानन्द यह कहकर

इसी विषय की ओर इंगित करते हैं, ''हमें यूरोपीय आलोचना की अचानक आयी हुई बाढ़ और उसके कारण अपने में उत्पन्न हुई भावनाओं से वशीभूत होकर अपनी नारियों की असमानता के विचार को स्वीकार करने में अत्यधिक शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। परिस्थितियों ने हमारे लिए अनेक शताब्दियों से नारी की रक्षा की जरूरत को अनिवार्य बनाया है। हमारी इस प्रथा का कारण इस तथ्य में है, नारी की हीनता में नहीं।''

अस्तु। अब बर्बर अत्याचारों का युग बीच चुका है। भारतीय नारियों को इस असहाय अवस्था में पहुँचाने वाली वे सामाजिक परिस्थितियाँ अब अतीत की बात हो चुकी हैं। अत: यही वह उचित अवसर है जबकि उन्हें इस अनुचित निर्भरता की अवस्था से निकलकर, पुराने दिनों के समान पुरुषों के साथ मूलभूत समानता के सम्मानित स्थान पर पुन:स्थापित होने में सहायक होने का प्रयास किया जाय। हमें याद रखना होगा कि उनमें प्राचीन काल की क्षत्रिय वीरांगनाओं या मध्यकाल की निर्भीक राजपूत बालाओं के समान अपने आचरण में साहसी, दृढ़ निश्चयी, स्वावलम्बी तथा वीर बनने की सम्भावना निहित है। यह उनके खून में विद्यमान है। दुर्बलता का वर्तमान दौर केवल एक सामयिक परिवर्तन है। हमें उनमें अन्तर्निहित क्षमता में परम विश्वास रखते हुए, उसे पुन: अभिव्यक्त करने की दिशा में बड़ी सावधानी के साथ अग्रसर होना चाहिए। ऐसा करते समय हमें इस बात को कतई नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन काल के समान ही अब भी विश्वास – स्वयं में विश्वास, ईश्वर तथा अपने धर्म में विश्वास – और साथ ही अपने पावित्र्य के परम आदर्श के प्रति अटल श्रद्धा में ही उनकी शक्ति का उत्स निहित है। शिक्षा-शास्त्री इस बात पर ध्यान दें, तो अच्छा होगा कि इसी प्रकार की सुदृढ़ नींव पर भारतीय नारी का निर्माण करना होगा। इसके लिए यदि समुचित व्यवस्था की गयी, तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारतीय नारी पुन: अपने चरित्र में आध्यात्मिक सन्तुलन खोये बिना ही वीरत्व का गुण विकसित कर लेगी, और द्रुत गति से अपनी वर्तमान दुरवस्था से ऊपर उठ जायेगी।

आध्यात्मिक अवनति का दौर, जिससे हम पिछले काफी काल से गुजर रहे हैं – यह भी भारतीय नारी की वर्तमान अवांछित अवस्था में योगदान करनेवाला एक अन्य प्रमुख कारक है। यह, और इसके साथ ही विदेश से आगत तड़क-भड़क-युक्त भौतिकवादी सभ्यता के साथ हमारे निकट सम्पर्क ने अपनी प्राचीन प्रज्ञा में हमारे विश्वास को हिलाकर अपने सांस्कृतिक आदर्शों पर से हमारी पकड़ को काफी ढीला कर दिया। भारतीय नारीत्व से जुड़े हुए आध्यात्मिक भाव तथा आदर्श हमारी धुँधली दृष्टि से प्राय: ओझल हो गये।

परन्तु खुशी की बात यह है कि वह केवल एक गुजरता हुआ दौर था। हमारी जनता की सांस्कृतिक आत्मचेतना अब पुन: जाग रही है। आध्यात्मिकता की एक उदीयमान तरंग अब अग्रसर होने लगी है। इसमें इस जाति को हजारों वर्षों तक परिचालित करनेवाले आध्यात्मिक भावों तथा आदर्शों के मूल्यों तथा महत्व के विषय में सभी वर्तमान सन्देहों, आशंकाओं, गलतफहमियों तथा उलझनों को दूर कर देने की सम्भावना निहित है। हमारी आत्मचेतना के अवश्यम्भावी जागरण के साथ-ही-साथ आशा की जाती है कि प्राचीन भारतीय नारीत्व का उदात्त आदर्श भी अपनी विशुद्ध महिमा में पुन: आलोकित हो उठेगा।

हमारी नारियों, विशेषकर उच्चतर वर्ग की नारियों के बौद्धिक विकास का निम्न स्तर भी निश्चित रूप से उनकी दुरवस्था का एक अन्य सुनिश्चित कारण है। हमारे समाज के दोनों

अंगों की शिक्षा के लिए पूर्णत: असमान सुविधाएँ उपलब्ध होना ही उनके बौद्धिक स्तर के भेद का स्पष्ट कारण है। हमारी मध्यवर्गीय जनता में निरक्षर पत्नियों वाले शिक्षित पुरुष काफी आम हैं। अत: स्वाभाविक ही है कि ऐसे पुरुषों के मन में बहुधा अपनी अशिक्षित पत्नियों की तुलना में एक उत्कृष्टता की कुण्ठा विकसित हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में महिलाओं की अवस्था शोचनीय हो जाती है। उनके बौद्धिक रूप से उन्नत जीवन-संगी उन पर प्रभुत्व जमाकर उन्हें स्थायी रूप से एक निकृष्ट अवस्था में बनाये रखते हैं।

महिलाओं की शिक्षा की दिशा में वर्तमान कदम स्पष्ट रूप से इसी दोष को सुधारने के लिए है। इसका उद्देश्य है – परिवार के दोनों घटकों के बौद्धिक जीवन में समानता लाकर उनकी स्थिति में बराबरी लाना। यह उद्देश्य निश्चित रूप से ठीक है। असमान बौद्धिक विकास की यह अस्वाभाविक अवस्था अब जारी रहने नहीं दी जा सकती।

परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमारे द्वारा अपनायी गयी पद्धति क्या उपयुक्त है? हमारे परिवेश तथा हमारे सांस्कृतिक आदर्शों से पूर्णतया असम्बद्ध शिक्षा की वर्तमान नकारात्मक प्रणाली से क्या हम वांछित फल प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं? महिलाएँ ही अब तक हमारे आध्यात्मिक जीवन की परम्परा को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए उसका संरक्षण कर रही हैं, यदि उन्हें भी पुरुषों के समान ही वर्तमान संकर किस्म की शिक्षा के द्वारा निश्चित रूप से अराष्ट्रीय प्रभाव का शिकार बनाया जाय, तो क्या हमारी जनता को इससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक नहीं होगी? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह हमारे जीवन में काफी महत्व रखता है, अत: इसे सहज ही टाला नहीं जा सकता। हमारी नारी-शिक्षा की प्रणाली के विवेकपूर्ण चुनाव पर ही अपने वैशिष्ट्य के साथ इस जाति का अस्तित्व निर्भर करता है। खुली छूट दिये जाने पर विदेशी संस्कृति हमारे समाज में तबाही ला सकती है। हमें इससे सावधान रहना होगा। किसी अविवेकपूर्ण शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप होनेवाले सांस्कृतिक बिखराव से कम-से-कम अपनी महिलाओं को बचाने के लिए तो हमारे पास उपयुक्त सुरक्षा-व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के एक स्वस्थ पुनरुत्थान के लिए वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में आमूल सुधार की आवश्यकता है। जब तक इस प्रकार का सुधार न हो जाय, जब तक इस देश की शिक्षा इसके पुरातन सांस्कृतिक आदर्शों से सम्बद्ध न हो जाय, कम-से-कम अपनी महिलाओं को तो इसके विनाशकारी प्रभावों के दायरे से सुरक्षित दूरी पर रखना ही श्रेयस्कर होगा। तथापि उनके बौद्धिक स्तर को उठाने में अब हमारे लिए क्षण भर का भी विलम्ब उचित नहीं है। सांस्कृतिक आदर्शों में उनकी निष्ठा को जरा भी डिगाए बिना हम किस प्रकार इसे सम्पन्न करें – हमारे सम्मुख यही समस्या है, और एक महत्वपूर्ण समस्या है। यह आवश्यक है कि हम तत्काल अपनी महिलाओं के लिए एक अलग शिक्षा-प्रणाली का निर्माण करें, जो राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार उनकी बौद्धिक उन्नति सुनिश्चित कर सके। इस देश की सभी सामाजिक संस्थाओं के समक्ष यह एक बड़ा आवश्यक कार्य है। यदि सच्चे हृदय के साथ वे इसका बीड़ा उठा लें, तो विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से शीघ्र ही नारी-शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली के उभर आने की सम्भावना है।

लक्ष्य स्पष्ट है। मातृत्व के उनके राष्ट्रीय आदर्श को विवेकपूर्वक रूपायित करने में आधुनिक ज्ञान जो कुछ योगदान कर सकता है, उससे उन्हें उचित रूप से लैश करना

हमारी नारी-शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए । पारिवारिक सुख में योगदान करना एक औसत भारतीय नारी के जीवन का मुख्य कार्य हो । इसके अतिरिक्त, नारी-सुलभ स्वभाव के उपयुक्त सामाजिक सेवा के कार्य उनकी चुनी हुई गतिविधियों में से एक हो । उनमें से किसी किसी को अपना जीविकोपार्जन करना पड़ सकता है । नर्सरी स्कूलों, प्राइमरी स्कूलों, बालिका विद्यालयों तथा कॉलेजों में शिक्षण; अस्पतालों तथा मातृत्व-केन्द्रों में नर्सिंग और घर में या कुटीर उद्योगों के माध्यम से हस्तशिल्प की वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा इसे किया जा सकता है । उन्हें पुरुषों के कार्यक्षेत्र पर धावा बोलकर अपने आचरण में पुरुषत्व लाने की आवश्यकता नहीं है । ऐसा करना भारतीय आदर्श से विपथगामी होगा । समाज में सन्तुलन तथा सामंजस्य बनाये रखने के लिए उन्हें अपना नारी-सुलभ आकर्षण तथा लज्जाशीलता, अपना विशिष्ट कार्य तथा सम्मान सुरक्षित रखना होगा ।

इस कारण उनकी शिक्षा-प्रणाली को इस प्रकार विकसित करना होगा, जो उनमें प्रथमत: अपनी पवित्रता, सरलता, आत्मत्याग, मातृसुलभ कोमलता तथा स्नेह, असीम धैर्य तथा सन्तोष आदि के अपने राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति प्रशंसा, आदर और उसके फलस्वरूप निष्ठा का भाव बैठा दे । द्वितीयत: यह उनकी बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करे, ताकि उन्हें अपने सांस्कृतिक भावों तथा आदर्शों के वास्तविक महत्व पर एक युक्तिसंगत पकड़ हो और वे अपने गार्हस्थ्य तथा सामाजिक जीवन से जुड़ी विभिन्न समस्याओं से बुद्धिमत्तापूर्वक निपट सकें । तृतीयत:, जब कभी उनके लिए जीविकोपार्जन अपरिहार्य हो जाय, तो यह शिक्षा उन्हें अपने कार्यक्षेत्र से निकले बिना, अपनी ही पद्धति से उपार्जन में सक्षम बना दे ।

किस प्रकार की शिक्षा भारतीय नारी की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त होगी – इस विषय में स्वामी विवेकानन्द के मन में कुछ सुनिश्चित विचार थे । एक बार उन्होंने कहा था, "हमारी नारियों को धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, भोजन बनाना, सीलाई, स्वास्थ्य आदि सब विषयों की मोटी मोटी बातें सिखलाना उचित है । नाटक और उपन्यास तो उनके पास तक पहुँचने ही नहीं चाहिए । परन्तु केवल पूजा-पद्धति सिखलाने से ही काम नहीं बनेगा । सब विषयों में उनकी आँखें खोल देना उचित है । छात्राओं के सामने आदर्श नारी-चरित्र सर्वदा रखकर नि:स्वार्थता रूपी व्रत में उनका अनुराग उत्पन्न कराना होगा । सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीराबाई आदि के जीवन-चरित्र कुमारियों को समझाकर उनको अपना जीवन वैसा बनाने का उपदेश देना होगा ।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने बताया, "इतिहास, पुराण, गृहकार्य, शिल्प, गहस्थी के सारे नियम आदि वर्तमान विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे तथा आदर्श चरित्र गठन करने के लिए उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी । कुमारियों को धर्मपरायण और नीतिपरायण बनाना पड़ेगा; जिससे वे भविष्य में अच्छी गृहिणियाँ हों, वही करना होगा ।" इस प्रकार यह माना जा सकता है कि भारतीय नारियों की आवश्यकता के अनुसार स्वीकृत आठ वर्षों की प्राथमिक शिक्षा का कोर्स हमारी अधिकांश छात्राओं के लिए यथेष्ट होगा । उनमें से कुछ बेहतर योग्यता तथा सुयोग पानेवाली कुछ छात्राएँ यदि चाहें तो वर्तमान हाई स्कूल के स्तर के समकक्ष का कोर्स पूरा करके शिक्षिकाओं या नर्सों के रूप में प्रशिक्षित हो सकती हैं । प्राथमिक स्तर के ऊपर की सभी बालिकाओं को रेखांकन, चित्रण, मूर्तिकला, संगीत तथा इसी प्रकार की अन्य ललित-कलाओं और इसके साथ ही कलात्मक दस्तकारी की वस्तुओं का उत्पादन करने का

प्रशिक्षण मिलना चाहिए । इन सबके साथ गृहविज्ञान पर विशेष बल सदा ही भारत की बालिकाओं की हाई स्कूल के अन्त तक की शिक्षा का एक विशिष्ट अंग होना चाहिए । यह बात उत्साहजनक है कि सार्जेंट रिपोर्ट भी हाई स्कूल की सभी बालिकाओं के लिए गृहविज्ञान को एक अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित करने की सिफारिश करता है । जैसा कि हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं, शिक्षा का माध्यम सर्वदा ही अपनी मातृभाषा हो और हाईस्कूल छोड़ने के पूर्व उनका अपनी निजी प्राचीन भाषा और इसके साथ-ही-साथ एक अन्य महत्वपूर्ण भारतीय भाषा से अच्छा परिचय हो जाय । साहित्य, इतिहास, भूगोल तथा प्राथमिक विज्ञान और उसके साथ ही प्राथमिक गणित भी अवश्य उनके पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाय, ताकि उनके बौद्धिक क्षितिज में विस्तार हो सके और वे आधुनिक ज्ञान के मूलभूत तत्त्वों से सम्पन्न हो सकें । साहित्य पर पुस्तकों का चुनाव तथा पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण करते समय इस दिशा में गम्भीर प्रयास किये जायँ कि ये बालिकाओं को उनके अपने सांस्कृतिक आदर्शों में चरम श्रद्धा रखने को प्रेरित करें । बालिकाओं की शिक्षा का कार्यक्रम बनाते समय इस पुस्तक में शारीरिक उन्नति, चरित्र-निर्माण तथा 'मूलभूत बातें' के रूप में जो कुछ भी कहा गया है, उन पर गम्भीरता से विचार किया जाय । जहाँ तक सम्भव हो, उपयुक्त संशोधनों के साथ, नारी-शिक्षा के कार्यक्रम में इन सिफारिशों को जोड़ा जा सकता है । यह स्मरण रखना उचित होगा कि नारी-शिक्षा की अपनी योजना बनाते समय विदेशी भावों तथा आदर्शों के साथ समझौता करना घातक सिद्ध होगा ।

हमारी अधिकांश बालिकाओं के लिए आठ वर्ष का और उनमें से कुछ के लिए हाईस्कूल तक के कोर्स की प्राथमिक शिक्षा के लिए ये कुछ मूलभूत तत्त्व हैं । इस देश के विभिन्न सामाजिक सेवा-संगठनों को वास्तविक प्रयोगों के द्वारा निश्चित रूप से, भिन्न भिन्न स्थानीय तथा समूहों की आवश्यकताओं के अनुरूप, विविध प्रकार से इसका विस्तृत विवरण बनाने का अवसर प्राप्त होगा ।

असामान्य प्रतिभावाली कुछ गिनी-चुनी बालिकाओं के लिए उच्चतर शिक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि इच्छा होने पर वे महिला-चिकित्सकों, अस्पताल की अधिक्षिकाओं, बालिका-विद्यालयों में शिक्षिकाओं और महिला कॉलेजों में प्राध्यापकों के रूप में योग्यता प्राप्त कर सकें । यदि शिक्षा के क्षेत्र में समर्पित सामाजिक सेवा-संगठनों के द्वारा प्रयोगों के माध्यम से उच्चतर शिक्षा के एक ऐसे पाठ्यक्रम का विकास हो सके, तो नि:सन्देह यह एक महान उपलब्धि होगी ।

यह स्पष्ट है कि जब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल सुधार नहीं होता, तब तक हमें अपनी बालिकाओं के लिए शिक्षा के न्यूनतम से उच्चतम विशिष्ट कोर्सों के साथ उनके लिए अलग संस्थाएँ रखनी होंगी । अत: सहशिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता । तथापि, चूँकि हाल ही में यह हमारी प्रणाली का एक अंग बन गया है, इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस विषय पर भी दो शब्द कहना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा । क्या हमें इस रिपोर्ट पर ध्यान नहीं देना चाहिए कि रूस जैसे एक देश में सहशिक्षा का परित्याग कर दिया गया है, जहाँ कि महिलाओं को शायद किसी भी देश से अधिक स्वाधीनता प्राप्त है? इसके अतिरिक्त सार्जेण्ट रिपोर्ट जूनियर प्राथमिक स्तर के ऊपर अर्थात बालिकाओं की ग्यारह वर्ष की आयु के बाद सहशिक्षा की सलाह नहीं देता । यह एक ठोस समाधान प्रतीत होता है । महिला

शिक्षकों के अधीन नर्सरी तथा प्राइमरी स्कूलों में सम्मिलित शिक्षा जारी रह सकती है।

यह रिपोर्ट आगे सुझाती है कि जूनियर बेसिक (अर्थात प्राथमिक) स्तर की बालिकाओं को यथासम्भव महिला शिक्षकों के ही अधीन रखा जाय। स्वामी विवेकानन्द उन्हें पूरी तौर से महिला शिक्षकों के अधीन ही चाहते थे। इस सन्दर्भ में स्वामीजी ने कहा था, "शिक्षित विधवा या ब्रह्मचारिणियों को ही (बालिकाओं के) स्कूल का कुल भार सौंपना चाहिए। इस देश की नारी-शिक्षण-संस्थाओं में पुरुषों का संसर्ग बिल्कुल भी अच्छा नहीं है।"

इस प्रकार प्रकल्पित तथा प्रसारित शिक्षा निश्चित रूप से हमारी नारियों को अत्यावश्यक उत्कर्ष प्रदान करेगा और इस प्रकार हमारे समाज में एक स्वस्थ तथा सुसन्तुलित अवस्था स्थापित करेगा। उचित प्रकार की शिक्षा से वे अपनी उन पुरानी समस्याओं को स्वयं ही सुलझा सकेंगी, जो काफी काल से समाधान की प्रतीक्षा कर रही हैं। अत: हमारी नारियों के बीच ऐसी शिक्षा की शुरुआत तथा प्रसार में अब एक दिन की भी देरी नहीं होनी चाहिए।

यह कार्य बहुत विराट है। इसे हाथ में लेने के पूर्व आवश्यक शैक्षणिक योग्यता तथा सुदृढ़ चरित्रवाली अनेक महिलाओं को तैयार करना होगा। अत: शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए संस्थाएँ तैयार करने की ओर हमें तत्काल ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त ये संस्थाएँ विभिन्न आयुवर्ग की छात्राओं के लिए विभिन्न पाठ्यक्रमों के विवरण ढूँढ़ निकालने के लिए प्रायोगिक केन्द्रों का भी कार्य करेंगी। यदि इस देश की विभिन्न समाज-सेवी संस्थाएँ सच्ची भावना के साथ इस कार्य में लग जाँय, तो देश के विभिन्न अंचलों में शिक्षकों के प्रशिक्षण की अनेक संस्थाएँ खुल जायेंगी और उनके माध्यम से भारतीय नारी की प्रतिभा तथा आवश्यकता के अनुरूप एक आदर्श शिक्षा-प्रणाली की शुरुआत करने की दिशा में काफी कुछ प्रारम्भिक कार्य किया जा सकेगा।

जब तक ऐसी कोई व्यवस्था आरम्भ नहीं की जाती, तब तक विद्यमान संस्थाओं में बालिकाओं की वर्तमान दौड़ को बिल्कुल भी रोका या समुचित प्रकार घटाया नहीं जा सकेगा। परिस्थितियों के दबाव ने उन्हें पुरुषों के बौद्धिक स्तर को प्राप्त करने के लिए विद्यमान शैक्षणिक संस्थाओं के द्वार पर धक्के मारकर उन्हें खोलने को मजबूर कर दिया है। समाज के दोनों घटकों के बीच बौद्धिक समानता की आवश्यकता से उत्थित यह एक पूर्णत: स्वाभाविक आन्दोलन है, और इसे एक आदेश के द्वारा रोका नहीं जा सकता। तथापि यह भी सत्य है कि वर्तमान संस्थाएँ उन्हें उनके अपने सांस्कृतिक आदर्शों से विपथगामी ही करेंगी। वे अपनी इस दुर्गम अवस्था से केवल तभी उबर सकती हैं, जब उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप एक आदर्श शिक्षा-व्यवस्था आरम्भ की जाय। अत: ऐसी शिक्षा के शुभारम्भ में हर तरह से शीघ्रता लाना होगा और जब तक ऐसा नहीं होता, उपयुक्त पूरक प्रशिक्षण के द्वारा वर्तमान प्रणाली के दोषों को न्यूनतम कर डालना होगा, जिस पर कि आगामी अंश में चर्चा की गयी है। ◻(क्रमश:)◻

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

श्री रामकुमार गौड़

(आकाशवाणी, वाराणसी)

जय जय जयतु जय रामकृष्ण अनूपछविसुखदायकम् ।
कल्याणधाम नमामि तव पद सहज भक्ति प्रदायकम् ।
जय परमपावन बंगभूमिकृतार्थकृत चरणोदकम् ।
जय मातृभाव अनूपविग्रह कालिकापदगायकम् ॥१॥

कामारपुकुरे जन्म तव कुलदेवता-रघुनायकम् ।
अतिपूतबालचरित्र पुरजन-स्वजन-मन-सुखदायकम् ।
निज शैशवे संगीतशिल्पकला- निपुणसुरनायकम् ।
जय शैवरात्रि-सुनाटके शिवभावितं वरदायकम् ॥२॥

जय कालिकार्चन-मग्न तन-मन सत्वगुणमय तनु इदम् ।
जय तप्तकांचन-वर्ण-मुखछवि- मातृनाम- परायणम् ।
जय परम व्याकुल-हृदयमध्ये मातृलीला-दर्शनम् ।
जय नित्यमक्षरपदं लब्ध्वा धन्यकृत निजजीवनम् ॥३॥

अनधीत-शास्त्रपुराणगीता तदपि सर्वमुखे स्थितम् ।
जय मातृचरणे दीनबालकमिव समर्पितजीवनम् ।
हे लोकशिक्षाकारणे कृतमानवीलीला इयम् ।
जय भक्तचित्तानन्ददाता जगन्मातृपदप्रियम् ॥४॥

जय भक्तशोकविनाशने अतिदक्षतनमनकोमलम् ।
हरिनामसंकीर्तनं कृत्वा भक्तचित्त- मलापहम् ।
इह खलु असारे जीवलोके नित्यपद- हृदिदर्शितम् ।
जय भक्त-भयभवबन्ध-छेत्तुं मृदुकथामृतवर्षितम् ॥५॥

ईशावास्योपनिषद् (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनानत वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु उपनिषदों पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। हम उनमें से सबसे लघु तथा शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के रूप में प्राप्त ईश या ईशावास्य उपनिषद् पर लिखे शांकर-भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हमने सामान्य अध्येताओं के लिए भाष्य में आये अधिकांश कठिन सन्धियों को तोड़कर सरल रूप में देने का प्रयास किया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

शान्तिमंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

भावार्थ – ॐ वह कारणात्मक अपरोक्ष ब्रह्म पूर्ण है, यह कार्यात्मक सोपाधिक (जगत्) ब्रह्म भी पूर्ण है। उस पूर्ण से यह पूर्ण प्रकट होता है। (ज्ञान या प्रलय के समय) कार्यात्मक ब्रह्म को स्वयं में लीनकर परब्रह्म ही रह जाता है। ॐ शान्ति हो, शान्ति हो, शान्ति हो।

भाष्य – ईशा वास्यं इत्यादयो मन्त्राः कर्मसु अविनियुक्ताः। तेषां अकर्मशेषस्य आत्मनो याथात्म्य-प्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं च आत्मनः शुद्धत्व-अपापविद्धत्व-एकत्व-नित्यत्व-अशरीरत्व-सर्वगतत्व-आदि वक्ष्यमाणम्। तत् च कर्मणा विरुध्येत इति युक्त एव एषां कर्मसु अविनियोगः।

'ईशावास्यम्' आदि इन मन्त्रों का वेदों के यज्ञादि कर्मकाण्ड में उपयोग नहीं हुआ है; आत्मा का यथार्थ स्वरूप व्यक्त करने के कारण ये मंत्र कर्मकाण्ड के अंग नहीं हो सकते। आगे (८वें मंत्र में) आत्मा का शुद्धत्व, अपापविद्धत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व, सर्वव्यापित्व आदि वास्तविक स्वरूप निरूपित किया जायेगा। यह आत्मा का स्वरूप कर्म-विधि का विरोधी है, अत: इन मन्त्रों का कर्मकाण्ड में उपयोग न होना उचित ही है।

न हि एवं-लक्षणं आत्मनो याथात्म्यं उत्पाद्यं विकार्यं आप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्। सर्वासां उपनिषदां आत्म-याथात्म्य-निरूपणेन एव उपक्षयात्। गीतानां मोक्षधर्माणां च एवं-परत्वात्। तस्माद् आत्मनो अनेकत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि च अशुद्धत्व-पापविद्धत्व आदि च उपादाय लोकबुद्धि-सिद्धं कर्माणि विहितानि।

उपरोक्त लक्षणवाला आत्मा का यथार्थ स्वरूप (घट, पट आदि के समान) उत्पाद्य नहीं है, (दूध से दही के समान) विकार्य नहीं है, (विद्या, स्वर्ग आदि के समान) प्राप्य नहीं है, (उपनयन, आचमन आदि के द्वारा) संस्कार्य नहीं है, और न ही इस (आत्मा) में कर्तृत्व या

भोक्तृत्व है, जिस कारण यह कर्मकाण्ड का अंग हो । समस्त उपनिषदों में आत्मा का यथार्थ स्वरूप ही निरूपित हुआ है । गीता आदि मोक्ष-शास्त्रों का भी यही लक्ष्य है । अत: आत्मा (जीव) का अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अशुद्धत्व, पापविद्धत्व आदि की स्वीकृति लोकबुद्धि में ही प्रसिद्ध है और (इसी आधार पर वेदों में) कर्मों का विधान हुआ है ।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चस् आदिना अदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिः अहं न काण-कुब्जत्व-आदि अनधिकार-प्रयोजक-धर्मवान् इति आत्मानं मन्यते सो अधिक्रियते कर्मसु इति हि अधिकारविदो वदन्ति ।

(कर्मकाण्ड में) अधिकार को जाननेवाले (जैमिनी आदि) शास्त्रज्ञ कहते हैं कि जो – ब्रह्मवर्चस् (चेहरे पर तेज) आदि दृष्ट तथा स्वर्ग आदि अदृष्ट कर्मफलों का इच्छुक है, स्वयं को ऐसा मानता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' और अनधिकार-सूचक 'काने-कुबड़ेपन आदि लक्षणों से युक्त नहीं हूँ' – वही कर्मकाण्ड का अधिकारी हो जाता है ।

तस्माद् एते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्य-प्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकं अज्ञानं निवर्तयन्तः शोक-मोह-आदि-संसारधर्म-विच्छित्ति-साधनम् आत्मा-एकत्व-आदि विज्ञानं उत्पादयन्ति । इति एवं उक्त-अधिकारि-अभिधेय-सम्बन्ध-प्रयोजनान् मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः।।

इस कारण ये मन्त्र आत्मा की यथार्थ स्वरूप प्रकट करने की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्मा के विषय में स्वाभाविक अज्ञान (विपरीत-ज्ञान) का निवारण करते हुए, शोक-मोह आदि संसार के लक्षणों का उच्छेदन करके आत्मा का एकत्व आदि विशेष ज्ञान उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार उपरोक्त मन्त्रों का (विरक्तरूप) अधिकारी, (एकत्व-रूप विषयवस्तु) अभिधेय, (प्रतिपाद्य आत्मा तथा प्रतिपादक ग्रन्थ के बीच) सम्बन्ध तथा (अज्ञान-निवृत्ति के द्वारा मोक्ष-प्रतिपादन-रूप) प्रयोजन से युक्त मंत्रों की संक्षेप हम में व्याख्या करेंगे ।

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।१।।

इस जगत् में जो कुछ भी परिवर्तनशील है, सबको ईश्वर से आच्छादित कर लेना चाहिए । इस त्याग के द्वारा अपना पालन करो । किसी के भी धन का लोभ मत करो ।

ईशा ईष्टे इतीट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वं इष्टे सर्वजन्तूनां आत्मा सन् प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेण आत्मना ईशा वास्यम् आच्छादनीयम् ।

(शासन करना अर्थवाले) ईष्ट धातु से (क्विप् प्रत्यय लगाने से ईट् और उसके तृतीया एकवचन में) ईशा रूप हुआ, जिसका अर्थ है ईश के द्वारा । परमात्मा ही सबका परम शासक है । वही सभी जीव-जन्तुओं के भीतर अन्तर्यामी के रूप में रहकर सब पर शासन करता है, उसी अपने आत्मा-रूपी-ईश से आवृत्त कर देना चाहिए ।

किम्? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चित् जगत्यां पृथिव्यां जगत् तत्सर्वं स्वेन आत्मना ईशेन प्रत्यगात्मतया अहं एव इदं सर्वं इति परमार्थ-सत्य-रूपेण अमृतं इदं सर्वं चराचरं आच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

किसको (आवरित कर देना चाहिए)? इन सबको – पृथ्वी पर जो कुछ भी परिवर्तनशील है, उन सबको अपने आत्मा-रूपी-ईश से – 'अन्तरात्मा के रूप में मैं ही सब कुछ हूँ' –

ऐसा जानकर परमार्थ सत्य रूप अपनी आत्मा के द्वारा इन समस्त मिथ्या चर-अचर (स्थावर-जंगम) को आवरित कर लेना चाहिये ।

यथा चन्दन-अगरु-आदेः उदकादि सम्बन्धज-क्लेद-आदिजं औपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूप-निघर्षणेन आच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन । तद्वत्-एव हि स्व-आत्मनि अध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्व-भोक्तृत्व-आदि-लक्षणं जगत्-द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्याम्, जगत्याम् इति उपलक्षणार्थत्वात् सर्वं एव नाम-रूप-कर्माख्यं विकारजातं परमार्थ-सत्य-आत्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

जैसे चन्दन, अगरू आदि में जल के संसर्ग से होनेवाले सड़न आदि से उत्पन्न दुर्गन्ध उपाधिरूप है, जिसे घिसने से वह अपने पारमार्थिक (वास्तविक) सुगन्ध से आच्छादित हो जाता है, वैसे ही अपनी आत्मा में आरोपित स्वाभाविक (अविद्या-कार्य) कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि लक्षणयुक्त द्वैतरूप जगत् – जगत्यां पृथ्वी के उपलक्षण से इसका अर्थ हुआ – नाम-रूप-क्रियावाले विकार से उत्पन्न सभी पदार्थ – इस परमार्थ-सत्य रूप आत्मा की भावना से परित्यक्त हो जाते हैं ।

एवं ईश्वर-आत्मभावनया युक्तस्य पुत्रादि-एषणात्रय-संन्यास एव अधिकारो न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेन इति अर्थः। न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति अतः त्यागेन इति अयं एव वेदार्थः । भुञ्जीथाः पालयेथाः ।

इस प्रकार ईश्वररूप आत्मा ही सब है – इस भाव से युक्त हुए व्यक्ति का ही पुत्रादि तीनों एषणाओं के त्याग में अधिकार है, न कि कर्मकाण्ड में । तेन त्यक्तेन का अर्थ है – ऐसे त्याग के द्वारा (न कि किसी बाह्य वस्तु के त्याग के द्वारा, क्योंकि) त्यागा या मरा हुआ पुत्र या सेवक अपनी आत्मा के सम्बन्धी न होने के कारण अपनी सेवा नहीं करते, अतः त्याग के द्वारा – यही वेद का तात्पर्य है । भुञ्जीथाः का अर्थ है (अपना) पालन करो ।

एवं त्यक्त-एषणः त्वं मा गृधः, गृधिं आकाङ्क्षां मा कार्षीः धनविषयाम् । कस्यस्विद्-धनं कस्यचित् परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीः इति अर्थः। स्वित् इति अनर्थको निपातः।

इस प्रकार एषणाओं का त्याग किये हुए (तुम) धन विषयक लोभ मत करो । तात्पर्य यह कि अपने या पराये – किसी के भी धन का लोभ मत करो । स्वित् शब्द एक निपात (अव्यय) है, जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता ।

अथवा मा गृधः। कस्मात्? कस्यस्वित् धनं इति आक्षेपार्थो न कस्यचित् धनं अस्ति यद् गृध्येत । आत्मा एव इदं सर्वं इति ईश्वरभावनया सर्वं त्यक्तं अतः आत्मनः एव इदं सर्वं आत्मा एव च सर्वं अतः मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीः इति अर्थः ।।१।।

या फिर (दूसरा अर्थ) – लोभ मत करो । क्यों? धन भला किसका है? – इस प्रकार स्वित् को आक्षेप के अर्थ में लिया जाय तो अर्थ होता है कि धन किसी का नहीं होता जिस कारण उसके लिए लोभ किया जाय । यह सब कुछ आत्मा ही है – इस ईश्वर-भावना के द्वारा सबका त्याग हो चुका है; अतः यह सब (धन) आत्मा का है और सब कुछ आत्मा ही है । इसलिए तात्पर्य यह हुआ कि इन मिथ्या विषयों का लोभ मत करो ।

*** ** ***

एवं आत्मविदः पुत्रादि-एषणात्रय-संन्यासेन आत्मज्ञान-निष्ठतया आत्मा रक्षितव्य इति एष वेदार्थः। अथ इतरस्य अनात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्य इदं उपदिशति मन्त्रः –

उपरोक्त मंत्र का तात्पर्य यह है कि आत्मवेत्ता पुत्रादि-सम्बन्धी तीनों एषणाओं के भलीभाँति त्याग के द्वारा आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित होकर अपनी आत्मा की रक्षा करे। अब इससे भिन्न (बाकी) लोग अनात्मज्ञानी होने के कारण आत्मा को समझने में असमर्थ हैं, उनके लिए यह (अगला) मन्त्र बताते हैं –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

जगत् में शास्त्रविहित कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। तुम जैसे मनुष्य के लिए कर्मों में अलिप्त रहने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं।

कुर्वन् एव इह निवर्तयन् एव कर्माणि अग्निहोत्र-आदीनि, जिजीविषेत् जीवितुं इच्छेत् शतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावत् हि पुरुषस्य परम-आयुः निरूपितम्। तथा च प्राप्त-अनुवादेन यत् जिजीविषेत् शतं वर्षाणि तत् कुर्वन् एव कर्माणि इति एतत् विधीयते।

अग्निहोत्र आदि (वेदविहित) कर्मों का पूर्ण रूप से सम्पादन करते हुए ही सौ की संख्यावाले वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। व्यक्ति की अधिकतम आयु यहीं तक बतायी गयी है। उसी (लोक-परम्परा से) प्राप्त (आयुसीमा) का अनुसरण करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने की बात कही गयी है और (आजीवन) कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहिए – यही विधान किया गया है।

एवं एवं प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्र-अभिमानिनि इतः एतस्माद् अग्निहोत्र-आदीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात् प्रकारात् अन्यथा प्रकारान्तरं न अस्ति येन प्रकारेण अशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यते इति अर्थः। अतः शास्त्र-विहितानि कर्माणि अग्निहोत्र-आदीनि कुर्वन् एव जिजीविषेत्।

इस प्रकार नरत्वबोध के अभिमान के साथ सौ साल तक जीवित रहने के तुझ आकांक्षी के लिए, इन अग्निहोत्र आदि कर्मरूपी वर्तमान विधि से भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं है, जिसके द्वारा अशुभ कर्म तुम्हें लिप्त न करे – यही तात्पर्य है। अतएव शास्त्रविहित अग्निहोत्र आदि करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करना चाहिए।

कथं पुनः इदं अवगम्यते पूर्वेण मंत्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठा उक्ता द्वितीयेन तद्-अशक्तस्य कर्मनिष्ठा इति।

शंका – तो फिर यह कैसे ज्ञात होता है कि पहले मन्त्र से संन्यासी के लिए ज्ञाननिष्ठा कही गयी है और दूसरे के द्वारा उसमें असमर्थ के लिए कर्मनिष्ठा बतायी गयी है?

उच्यते; ज्ञानकर्मणोः विरोधं पर्वतवत् अकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्? इह अपि उक्तं 'यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्', 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः', 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इति च। 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीत, अरण्यं इयात्' इति च पदम्; 'ततो न पुनरियात्' इति संन्यास-शासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति।

समाधान – बताते हैं – क्या तुम पहले (भूमिका में) बतायी गयी यह बात भूल गये कि ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अचल है? यहाँ भी 'जो जीने की इच्छा करे, वह कर्म करते हुए ही करे', 'सब कुछ ईश्वर से आच्छादित कर लेना चाहिए', 'त्याग के द्वारा अपना पोषण करो', 'किसी के धन का लोभ मत करो' – आदि के द्वारा (वही विरोध)

दिखाया गया है । इसके अतिरिक्त संन्यास का भी ऐसा विधान है – 'न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की, वन या किसी ऐसे ही स्थान में चले जाओ और वहाँ से फिर लौटकर मत आओ'। अब दोनों के फल का भेद बताते हैं –

इमौ द्वौ एव पन्थानौ अनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथः च एव पुरस्तात् संन्यासः च उत्तरेण । निवृत्तिमार्गेण एषणात्रयस्य त्यागः । तयोः संन्यासपथ एव अतिरेचयति । 'न्यास एव अत्यरेचयत्' इति च तैत्तिरीयके । 'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः।।' (महा.शा.२४१/६) इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितं उक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागं च अनयोः दर्शयिष्यामः।।२।।

प्रारम्भ में कर्मकाण्ड का तथा बाद में संन्यास-मार्ग का उदय हुआ और ये दोनों ही मार्ग (प्राचीन परम्परा से) निरन्तर चले आये हैं । निवृत्ति-मार्ग (संन्यास) के द्वारा (पुत्र-वित्त-मान) तीनों एषणाओं का त्याग है । इन दोनों में संन्यास-मार्ग ही उत्तम है । तैत्तिरीय आरण्यक में भी कहा गया है, 'त्याग ही श्रेष्ठ है' । वेदाचार्य भगवान व्यास ने भी (महाभारत में) विचारपूर्वक अपने पुत्र के प्रति निश्चय के साथ कहा है, 'दो मार्ग हैं, जिनमें वेद प्रतिष्ठित होते हैं, जिनका प्रवृत्ति-लक्षण तथा निवृत्ति-लक्षण धर्मों के रूप में निरूपण किया गया है ।'' आगे हम इन दोनों के बीच का भेद दिखाएँगे ॥२॥

*** ** ***

अथ इदानीं अविद्वन्-निन्दार्थः अयं मन्त्र आरभ्यते –

अब अज्ञानी की निन्दा के उद्देश्यवाला यह मन्त्र आरम्भ किया जाता है –

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३।।

भावार्थ – आत्मघाती अर्थात् आत्मा का हनन करनेवाले लोग मरने के बाद असुरों के उस लोक (शरीर) को प्राप्त करते हैं, जो घोर अज्ञान अन्धकार से आच्छादित है अर्थात् पशु-वनस्पति आदि योनियों को प्राप्त होते हैं ।

असुर्याः परमात्मभावं-अद्वयं अपेक्ष्य देवादयः अपि असुराः तेषां च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम । नाम शब्दो अनर्थको निपातः ।

असुरों के लोक (शरीर) को असुरलोक कहते हैं, परमात्मा के अद्वयभाव की तुलना में देवतागण भी असुर ही हैं – उन लोगों द्वारा अर्जित किये हुए लोक भी असुर्यलोक कहे जायेंगे । 'नाम' शब्द – अर्थरहित निपात् है ।

ते लोकाः कर्मफलानि । लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति जन्मानि । अन्धेन अदर्शनात्मकेन अज्ञानेन तमसा आवृताः आच्छादिताः तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वा इमं देहं अभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।

वे लोक अर्थात् कर्मफल-रूप वे योनियाँ, जो (इन्द्रियों द्वारा) देखने में आती हैं तथा भोगी जाती हैं । इस शरीर को छोड़ने के बाद (लोग) अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुरूप (अनात्मज्ञान के) घोर अन्धकार से आच्छादित स्थावर (वनस्पति) तक की योनियाँ प्राप्त करते हैं ।

ये के चात्महनः। आत्मानं घ्नन्ति इति आत्महनः। के ते जनाः? ये अविद्वांसः। कथं ते आत्मानं नित्यं हिंसन्ति। अविद्यादोषेण विद्यमानस्य आत्मनः तिरस्करणात्। विद्यमानस्य आत्मनः यत्कार्यं फलम् अजर-अमरत्व-आदि-संवेदनलक्षणं तत् हतस्य इव तिरोभूतं भवति इति प्राकृता अविद्वांसः जनाः आत्महनः उच्यन्ते। तेन हि आत्महनन-दोषेण संसरन्ति ते।।३।।

आत्मा को मारनेवाले को आत्महन् कहते हैं । ऐसे कौन लोग हैं? – जो अज्ञानी होते हैं । वे लोग आत्मा का कैसे निरन्तर हनन करते रहते हैं? – चिर-विद्यमान आत्मा का अविद्यारूपी दोष के चलते उपेक्षा करते हुए । विद्यमान आत्मा का कार्यरूप फल – अजरता, अमरता आदि बोधरूप लक्षणवाला फल, मरे हुए के समान तिरोभूत हो जाता है, इस कारण अज्ञानीजन आत्मघाती कहलाते हैं । इस कारण से वे अज्ञानी लोग आत्महत्या रूपी दोष से संसार में (भटकते या) आवागमन करते हैं ।

आत्मतत्त्व का स्वरूप

यस्य आत्मनो हननात् अविद्वांसः संसरन्ति तद्-विपर्ययेण विद्वांसो जनाः मुच्यन्ते ते न आत्महनः तत् कीदृशं आत्मतत्त्वं इति उच्यते –

जिस आत्मा का हनन करने से अज्ञानीजन संसार में भटकते हैं और उसके विपरीत ज्ञानीजन आत्महन्ता न होकर मुक्त हो जाते है, वह आत्मतत्त्व कैसा है, अब यह बताया जाता है –

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

वह आत्मा अचल है, एक है तथा मन से भी अधिक वेगवान है । पहले ही चले जाने के कारण इन्दियाँ इसे प्राप्त नहीं कर सकीं । यह स्थिर रहकर भी अन्य दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है । इस आत्मा की उपस्थिति के कारण ही वायु समस्त कर्मों को धारण करती है अथवा सूत्रात्मा सभी प्रकार के कर्मों का उपयुक्त विभाग करते हैं ।

अनेजत् न एजत् । एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्व-अवस्था-प्रच्युतिः तद्-वर्जितं सर्वदा एकरूपं इति अर्थः । तत् च एकं सर्वभूतेषु मनसः सङ्कल्पादि-लक्षणाद् जवीयो जववत्तरम् ।

अनेजत् – नहीं चलनेवाले । एजृ धातु का अर्थ है – कम्पन, चलना, अपने स्वरूप से च्युति; वह इसके विपरीत अर्थात सर्वदा एकरूप रहता है । वह (आत्मा) सर्वभूतों में एक है । संकल्प आदि करनेवाले मन से भी अधिक वेगवान है ।

कथं विरुद्धं उच्यते, ध्रुवं निश्चलं इदं मनसः जवीयः इति च ।

शंका – यह कैसी उल्टी-सीधी बातें कहते हैं कि स्थिर निश्चल यह (आत्मा) मन से भी अधिक वेगवान है?

न एष दोषः । निरुपाधि-उपाधिमत्त्वेन उपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेण उच्यते अनेजदेकं इति मनसो अन्तःकरणस्य सङ्कल्प-विकल्प-लक्षणस्य उपाधेः अनुवर्तनाद् इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादि-दूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्रात् भवति इति अतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इव आत्मचैतन्य-अवभासो गृह्यते अतो मनसो जवीयः इति आह ।

समाधान – इसमें कोई दोष नहीं है। निरुपाधिक (शुद्ध चैतन्य) रूप से और (मन-बुद्धि आदि) उपाधियुक्त होने से इसकी मीमांसा हो जाती है। इनमें निरुपाधिक (शुद्ध) आत्मा अपने स्वरूप से निश्चल तथा एक है। संकल्प-विकल्प लक्षणवाले अन्त:करण रूप उपाधि का अनुसरण करने से इस पार्थिव देह में स्थित मन क्षण भर में संकल्प के द्वारा ब्रह्मलोक आदि दूर स्थानों को चला जाता है। इस कारण मन का सर्वाधिक वेगवान होना लोकप्रसिद्ध है। उस मन के वेगपूर्वक ब्रह्मलोक आदि में जाने पर आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब पहले से ही पहुँचा हुआ-सा अनुभूत होता है, अत: इसे मन से भी अधिक वेगवान कहा गया है।

नैनद्देवा द्योतनाद् देवा: चक्षु: आदीनि इन्द्रियाणि एतत् प्रकृतं आत्मतत्त्वं न आप्नुवन् न प्राप्तवन्त:। तेभ्यो मनो जवीय: मनोव्यापार-व्यवहितत्वाद् आभासमात्रं अपि आत्मनो न एव देवानां विषयी भवति। यस्मात् जवनात् मनसो अपि पूर्वमर्षत् पूर्वं एव गतं व्योमवद्-व्यापित्वात्।

देवगण अर्थात् इन्द्रियाँ, प्रकरण के विषय – इस आत्मतत्त्व को पा नहीं सकीं। द्योतन – प्रकाशक होने से नेत्र आदि इन्द्रियाँ देव कहलाती हैं। मन उन (इन्द्रियों) से अधिक वेगवाला है। (आत्मा तथा इन्द्रियों के बीच में) मन के क्रियाशील रहने के कारण ही इन्द्रियों को आत्मतत्त्व का आभास तक गोचर नहीं होता। आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी होने के कारण वेगवाले मन से भी पहले ही पहुँच जाता है।

सर्वव्यापि तद् आत्मतत्त्वं सर्व-संसारधर्म-वर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेण अविक्रियं एव सन् उपाधिकृता: सर्वा: संसारविक्रिया अनुभवति इति अविवेकिनां मूढानां अनेकं इव च प्रतिदेहं प्रति-अवभासते इति एतद् आह।

वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक (शुद्ध) स्वरूप से सभी प्रकार के सांसारिक गुणों से रहित तथा अपरिवर्तनशील (अविकारी) होकर भी उपाधिजनित समस्त सांसारिक विकारों का अनुभव करता है। और इस कारण अज्ञानी मूढ़ लोगों को प्रत्येक शरीर में अलग अलग आत्मा प्रतिभात होता है। इसीलिए श्रुति ने ऐसा कहा।

तद्धावतो द्रुतं गच्छत: अन्यान् आत्मविलक्षणान् मनो-वाक्-इन्द्रिय-प्रभृतीन् अत्येति अतीत्य गच्छति इव। इव अर्थं स्वयं एव दर्शयति तिष्ठत् इति स्वयं अविक्रियं एव सन् इति अर्थ:।

वह आत्मतत्त्व स्वयं से पृथक् मन, इन्द्रिय, वाणी आदि को मानो पार करके तीव्र गति से चलता है। इव शब्द का अर्थ बताते हुए मंत्र स्वयं ही 'तिष्ठत् – ठहरा हुआ' के द्वारा यह दिखाता है कि स्वरूप में बिना किसी विकार के (चलता है)।

तस्मिन् आत्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्य-स्वभावे मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छति इति मातरिश्वा वायु: सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यद् आश्रयाणि कार्य-करण-जातानि यस्मिन् ओतानि प्रोतानि च यत् सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा; अप: कर्माणि प्राणिनां चेष्टा-लक्षणानि, अग्नि-आदित्य-पर्जन्यादीनां ज्वलन-दहन-प्रकाश-अभिवर्षण-आदि-लक्षणानि दधाति विभजति इति अर्थ:।

उस नित्य-चैतन्य-स्वरूप आत्मतत्त्व के होने पर ही, मातरिश्वा – अन्तरिक्ष में चलने के कारण वायु को मातरिश्वा कहते हैं; समस्त जीवों में प्राण का पोषण करनेवाला,

गतिशील-स्वभाव, कार्यरूपी करण-समुदाय (इन्द्रिय=बाह्य करण; मन+बुद्धि=अन्त:करण) जिस वायु के आश्रय में रहते हैं, जिसमें ओतप्रोत हैं, प्राण का समष्टि जो सूत्र नामवाला है, सम्पूर्ण जगत् को धारण करनेवाला है, वह वायु ही मातरिश्वा है; अप: का अर्थ है कर्म – प्राणियों के चेष्टारूप कर्म – अग्नि, आदित्य, मेघ के द्वारा इनको ज्वलन, दहन, प्रकाश, वर्षा के रूप में सभी भूतों तथा जीवों के लिए कर्म का विभाजन करता है ।

धारयति इति वा 'भीषास्मात् वातः पवते' (तै.उ.२/८/१) इत्यादि-श्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्य-कारणादि-विक्रिया नित्यचैतन्य-आत्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सति एव भवन्ति इति अर्थः ।।४।।

अथवा "उस (आत्मतत्त्व) के भय से ही वायु बहता है" आदि मन्त्रों के आधार पर 'धारण करता है' अर्थ लेने पर तात्पर्य यह हुआ कि सबके आश्रयरूप आत्मस्वरूप नित्यचैतन्य के होने से ही समस्त कार्य और कारण रूपी विकार होते हैं ।

*** **** ***

न मन्त्राणां जामिता अस्ति इति पूर्व-मन्त्रोक्तं अपि अर्थं पुनः आह -

वेदों को आलस्य नहीं है, अत: पिछले मन्त्र का तात्पर्य ही पुन: कहा जाता है –

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

वह (आत्मा) चलता है और वह नहीं चलता । वह दूर है और वह निकट है । वह इन सबके भीतर है और इन सबके बाहर है ।

भाष्य – तत् आत्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तद् एजति चलति तद् एव च न एजति स्वतो न एव चलति स्वतो अचलं एव सत् चलति वा इति अर्थः। किं च तद्दूरे वर्षकोटिशतैः अपि अविदुषां अप्राप्यत्वाद् दूर इव। तत् उ अन्तिके इतिच्छेदः। तद्वन्तिके समीपे अत्यन्तं एव विदुषां आत्मत्वात् न केवलं दूरे अन्तिके च । तदन्तः अभ्यन्तरे अस्य सर्वस्य "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ. उ. ४/५/१३) इति श्रुतेः अस्य सर्वस्य जगतो नाम-रूप-क्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतः व्यापकत्वाद् आकाशवत् निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः। "प्रज्ञानघन एव" (बृ. उ. ४/५/१३) इति च शासनात् निरन्तरं च ।।५।।

जो आत्मतत्त्व इस प्रकरण का विषय है, वह चलता है और वही स्वभाव से नहीं भी चलता है । तात्पर्य यह है कि स्वयं अचल होकर भी चलने जैसा प्रतीत होता है । और वह दूर है – सौ करोड़ वर्षों में भी अज्ञानी के द्वारा अप्राप्य होने के कारण दूरवत् प्रतीत होता है । यहाँ तद् उ अन्तिके – ऐसा पदच्छेद होगा । न केवल दूर, बल्कि अपना स्वरूप होने के कारण ज्ञानियों के लिए अत्यन्त समीप भी है । वह इन सब (दृश्यमान पदार्थों) के भीतर है, जैसा कि श्रुति कहती है – "जो आत्मा सबके भीतर स्थित है"। आकाश के समान वह इन समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत् के बाहर भी है और परम सूक्ष्मता के कारण भीतर भी है । "चैतन्य का घनीभूत स्वरूप है"– इस श्रुति के द्वारा उसे निरन्तर – शून्यरहित भी बताया गया है । □(क्रमशः)□